उर्वशी :

एक समीक्षात्मक अध्ययन

१९७५

प्रस्तुतकर्त्री

पुष्पा रानी गर्ग

निर्देशक

प्रो. गणेशदत्त त्रिपाठी

उर्वशी :
एक समीक्षात्मक अध्ययन

प्रस्तुतकर्त्री :
पुष्पा रानी गर्ग

निर्देशक :
प्रो. गणेशदत्त त्रिपाठी
सहायक प्राध्यापक
हिन्दी विभाग
शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, इन्दौर

जन जन के मन की मधुर वृद्धि
प्रत्येक हृदय की उजियाली
नारी की मैं कल्पना चरम
नर के मन में बसने वाली

प्रो० बी०डी०त्रिपाठी
सहायक प्राध्यापक
हिन्दी विभाग,

शासकीय कला एवं वाणिज्य
महाविद्यालय,
इन्दौर.

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती पुष्पा रानी गर्ग ने इन्दौर विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर हिन्दी परीक्षा सन् १९७५ ईसवी के अष्टम प्रश्न पत्र'ब' के लिए मेरे निर्देशन और निरीक्षण में प्रस्तुत प्रबन्ध लिखा है, जिसका विषय है "उर्वशी; एक समीक्षात्मक अध्ययन" । यह पूर्णतया मौलिक है ।

इन्दौर,
दिनांक १.३.७५.

बी.डी. त्रिपाठी
१.३.७५

(बी.डी. त्रिपाठी)

उर्वशी;

एक समीक्षात्मक अध्ययन

अनुक्रमणिका

अध्याय		पृष्ठ संख्या
	भूमिका	१
१.	वस्तु-योजना - कथानक एवं प्रेरणा-स्रोत	४
२.	प्रतीक-योजना	२१
३.	नारी-भावना	३१
४.	प्रेम का स्वरूप	४८
५.	काव्य-रूप	५१
६.	रस-योजना	७७
७.	शिल्प-योजना	८४
८.	मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण ...	९५
९.	काम का स्वरूप	१२३
१०.	मूल्यांकन	१३४
	संदर्भिका	१४४

भूमिका

किसी भी पुस्तक की भूमिका लिखना, संभवतः सर्वाधिक कठिन होता है, मूलतः, इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि भूमिका ही पुस्तक के प्रारम्भ में आती है, जबकि लिखी अन्त में जाती है, दूसरा, भूमिका में पुस्तक के विषय को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत करना, कि उसको पढ़ने से पाठक के सम्मुख पुस्तक का वर्ण्य-विषय संकेत रूप में सामने आ जाए।

अस्तु, अपने आप में कुछ विशिष्ट होते हुए भी, भूमिका-लेखन का कार्य कम रुचिकर नहीं है, क्योंकि हर लेखक को इस दौर से गुजरना अवश्य होता है, और इस रूप में भूमिका लेखन, लेखकों के लिए एक सामान्य विषय ही है।

मेरे समीक्षात्मक अध्ययन का विषय श्री रामधारी सिंह दिनकर कृत 'उर्वशी', न केवल एक सुन्दर, सरस एवं मधुर काव्य ही है वरन वह धर्म, दर्शन एवं मूलतः काम आदि विषयों के अध्येताओं के लिए रुचिकर एवं बौद्धिक आयामों का स्पर्श भी है। संभवतः यही सबसे बड़ा कारण है, जिसने मुझे इस विषय पर लघु-प्रबन्ध लिखने की प्रेरणा दी। यूं तो स्वयं दिनकर जी ने ही 'उर्वशी' के मूल विषय 'काम', जिसे स्वयं उन्होंने 'कामाध्यात्म' की संज्ञा दी है, पुस्तक के तृतीय अंक में बड़े ही रुचिर ढंग से, उर्वशी एवं पुरुरवा के वार्तालाप के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया है, तथापि कुछ आलोचकगण संभवतया, या तो दिनकरजी का मन्तव्य पूर्णतया न समझ पाने के कारण, अथवा किंचित् पूर्वाग्रहों से ग्रसित होने के कारण, कवि एवं कथ्य के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके हैं।

उदाहरणार्थ तृतीय अंक की कुछ पंक्तियां लीजिये -

घूंट या दो घूंट पीते ही
न जाने, किस अतल में नाद यह जाता,
अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है ।

इन पंक्तियों की आलोचना करते समय, शायद, समीक्षकगण यह भूल जाते हैं कि वास्तविक जीवन की विभिन्न कटुताओं एवं समस्याओं का सामना करते हुए, एक ओर, व्यक्ति सब कुछ भूल भोगेच्छा को तृप्त करना चाहता है, परन्तु दूसरे ही क्षण, जीवन में भोगे हुए अनेक प्रकार के तिक्त एवं मधुर अनुभव, उसे अदृश्य पर सोचने को बाध्य किए बिना नहीं रहते, क्योंकि एक ओर तो मनुष्य के सम्मुख जीवन के अनेक सुन्दर एवं आकर्षक क्षण हैं, जिनमें नर एवं नारी के पारस्परिक आकर्षण से प्रसूत कामेच्छा भी है, तो दूसरी ओर जीवन की इतनी विभीषिकाएं, कटुताएं एवं विषमताएं हैं, जो उसे आनन्द की विशिष्ट स्थितियों में भी इस सब पर चिन्तन करने को बाध्य कर देती है ।

कामाध्यात्म सम्बन्धी अध्याय, मेरी आलोचना का मुख्य प्रतिपाद्य होते हुए भी सम्पूर्ण आलोचना की इतिश्री नहीं है । यद्यपि प्रेम-भावना, काम से सर्वथा भिन्न नहीं है, तथापि, इस विषय का मैंने, अलग अध्याय में विवेचन किया है, क्योंकि 'काम के स्वरूप' में तो मात्र सनातन नर-नारी के पारस्परिक आकर्षणजन्य काम की अनेक स्थूल एवं सूक्ष्म आकृतियों का एवं काम के आध्यात्मिक पक्ष का, निरपेक्ष एवं निष्पक्ष दृष्टि से विवेचन करने का प्रयत्न किया है । इसी अध्याय में 'उर्वशी' में प्रस्तुत प्रेम के भुक्त स्वरूप का अध्ययन न केवल अध्याय को अनावश्यक विस्तार ही प्रदान करता, वरन, संभवतया विवेच्य विषय से अलग भी जा पड़ता । अतः 'प्रेम का स्वरूप' अध्याय मैंने अलग ही रखना उचित समझा । इसके अतिरिक्त 'उर्वशी एवं

पुरूरवा' सम्बन्धी कथा की ऐतिहासिकता एवं नारी भावना को छोड़ कर अन्य अध्यायों का भी जो सीधे काव्य की काव्यात्मकता से सम्बन्धित हैं एवं जिनके विवेचन के अभाव में, संभवतया मेरी समीक्षा अपूर्ण ही रहती, मैंने अलग से निरपेक्ष विवेचन करने का प्रयत्न किया है ।

अस्तु, अपने समग्र रूप में मेरी यह समीक्षात्मक कृति कैसी बन पड़ी है इसका निर्णय तो विज्ञ पाठकों पर ही है, तथापि मैं कुछ व्यक्तियों की सहायता एवं प्रेरणा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त किये बिना नहीं रह सकती । मेरे निर्देशक प्रोफेसर बी.डी. त्रिपाठी साहब की प्रेरणा एवं कृपा तो असंदिग्ध है ही । जब-जब भी मैं कोई समस्या लेकर उनके पास गई उन्होंने अपने सुलझे हुए तर्क से उसे हल कर दिया । अपना अमूल्य समय देकर उन्होंने मेरा लिखा हुआ प्रबन्ध पढ़ा और आवश्यक निर्देश देते रहे । मेरा यह लघु प्रबन्ध उनकी प्रेरणा का ही परिणाम है ।

अन्त में, मैं इन्दौर विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार महोदय श्री ए.बी. शर्मा साहब, सब-रजिस्ट्रार महोदय श्री आर.सी. परमार साहब तथा हिन्दी विभाग की चेयरमैन श्रीमती भारती जोशी महोदया की हृदय से आभारी हूं जिन्होंने मुझे व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में यह लघु प्रबन्ध प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान की । साथ ही शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय के प्राचार्य श्री बी.एन. लूनिया एवं हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा. नेमीचन्दजी जैन की विशेष कृपा से मुझे आवश्यक सामग्री उपलब्ध होती रही, इसके लिए मैं उनकी विशेष रूप से आभारी हूं ।

निवेदिका,
पुष्पा रानी गर्ग

दिनांक
१.३.६५

(पुष्पा रानी गर्ग)

अध्याय

१

वस्तु योजना – कथानक एवं प्रेरणा स्रोत

'उर्वशी' श्री रामधारी सिंह दिनकर की श्रेष्ठतम रचना है। इसमें कवि की दृष्टि अम्बर से अधिक धरती पर टिकी है। दिनकर इसी धरती को स्वर्गतुल्य बनाने के पक्ष में हैं बल्कि किन्हीं मानों में तो वे धरती को स्वर्ग से अधिक श्रेष्ठ मानते हैं। इसी धरती का आकर्षण स्वर्गलोक की अनिंद्य सुन्दरी अप्सरा उर्वशी को भी नीचे खींच लाता है। कवि के अनुसार स्वर्गीय प्रेम में शीतलता है तो मर्त्यलोक के प्रेम में दाह है उन्माद है ऐसा पावक है जो नर-नारी को देह-धर्म से परे ऐसे लोक में पहुँचा देता है जो अलौकिक है - अनिर्वचनीय है।

दिनकरजी को जीवन में ओज एवं सरसता दोनों ही अभीष्ट हैं। यद्यपि वीर और श्रृंगार दो ऐसे छोर हैं जिनका मिलना दुष्कर है किन्तु जिस प्रकार धरती-अम्बर पर्याप्त दूर होते हुए भी क्षितिज के रूप में अभिन्न रहते हैं उसी प्रकार दिनकर ने भी वीर रस की वर्षा करते हुए 'उर्वशी' के रूप में श्रृंगार रस का स्रोत भी बहा दिया। पुरूरवा और उर्वशी का मिलन एक प्रकार से दाह एवं माधुर्य का समन्वय है। "इस काव्य में श्रृंगार का प्रचुर चित्रण इस तथ्य की उद्घोषणा करता है कि यद्यपि युवा कवि समय की पुकार से प्रभावित होकर ओजस्वी प्रवाह में अवश्य बहा था परन्तु उसमें एक सरस धार भी बह रही थी। वही अवरुद्ध रस धार यौवन की समाप्ति पर शारीरिक बल के ह्रासोन्मुख होते ही इस ओज की छाती को विदीर्ण कर उर्वशी के मार्ग से

सवेग प्रवाहित हो गई "।[1] दिनकर उर्वशी की भूमिका के अन्त में लिखते हैं -

"किन्तु उस प्रेरणा पर तो मैंने कुछ कहा ही नहीं जिसने आठ वर्षों तक ग्रसित रखकर यह काव्य मुझसे लिखवा लिया।

अकथनीय विषय !

शायद अपने से अलग करके मैं उसे देख नहीं सकता; शायद वह अलिखित रह गयी, शायद, वह इस पुस्तक में व्याप्त है " ।[2]

कवि का संकेत किसी गुह्य प्रेरणा पर है जो शायद कभी उनके जीवन में प्रकट हुई होगी। इतना निश्चित है कि यह कृति दिनकर की समस्त काव्य-साधना का फल है। दिनकरजी से किसी ने प्रश्न किया 'जब आपने उर्वशी की रचना की तो आपको कैसा लगा'? दिनकरजी का उत्तर था - "जब मैं घोर समाधि में था, मैंने स्पष्ट देखा कि उर्वशी जमीन से ऊपर मेरे सामने खड़ी है। मैंने जितनी नारियाँ देखीं उन सबसे वह श्रेष्ठ थी। वह मेरी कल्पना की साकार प्रतिमा थी। जो उर्वशी शब्दों में उतारी जा सकी वह उतनी सुन्दर नहीं जितनी सुन्दर वह मेरे मानस चक्षु के सामने प्रकट हुई थी" ।[3]

'उर्वशी' दिनकरजी की आठ वर्षों की मौन साधना का फल है। शब्दों के कलेवर में कवि ने जो मूर्ति प्रस्तुत की है वह पाठक को रसाभिभूत करने में पूर्ण सक्षम है उसका सौन्दर्य समस्त ग्रन्थ में व्याप्त है। उर्वशी की कथा-सृष्टि भी बड़े ही स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत हुई है। पौराणिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र उर्वशी की कथा के सूत्र बिखरे पड़े हैं किन्तु कवि ने उनको इस प्रकार गुम्फित करके प्रस्तुत किया है कि वह मौलिक सा जान पड़ता है। पुराणों

---

१. 'महाकवि दिनकर; उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ' विमलकुमार जैन, पृष्ठ १३६,
२. 'उर्वशी' - भूमिका - पृष्ठ (ज), प्रथम संस्करण १९६१,
३. कादम्बिनी - अगस्त अंक १९७३.

में बाये उर्वशी के प्रसंगों का यदि हम भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि दिनकर ने सभी कथाओं में से कुछ न कुछ लेकर उन्हें इस प्रकार समन्वित किया है कि कहीं भी शृंखला नहीं टूटती ।

पुराणों में उर्वशी की कथा के सूत्र -

पुराणों में पुरुरवा और उर्वशी की कथा कई रूपों में उपलब्ध है। पुरुरवा को ऐल भी कहते हैं। उनको चन्द्र वंश का आदि पुरुष माना गया है। कहा जाता है कि उन्होंने जन्म के समय पशु स्वर से रव किया था इसी से उनका नाम पुरुरवा पड़ा। इनकी माता का नाम इला था जो वस्तुतः सुद्युम्न नाम का राजा था किन्तु किसी अभिशप्त वन में अनजाने ही पहुँच जाने के कारण स्त्री रूप हो गया था। सोम-पुत्र बुध से इला को पुरुरवा की प्राप्ति हुई थी ।

उर्वशी के जन्म के विषय में भी भिन्न-भिन्न आख्यान मिलते हैं प्रथम तो यह है कि समुद्र-मन्थन के समय अन्य अप्सराओं के साथ उर्वशी का जन्म हुआ। दूसरी यह है कि एक बार नारायण ऋषि की तपस्या से प्रभावित होकर इन्द्र भयभीत हो गया। उसने अनेक अप्सराएँ उनकी तपस्या में विघ्न डालने हेतु भेजीं। परिणामस्वरूप नारायण ऋषि ने अपने उरु को ठोक कर एक ऐसी नारी उत्पन्न की जो उन सब अप्सराओं से अत्यधिक रूपवती थी। उरु से जन्मी होने के कारण उसका नाम उर्वशी पड़ा।

उर्वशी की कथा का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है इसमें उर्वशी की सम्पूर्ण कथा न होकर पुरुरवा के साथ उसका सम्भाषण है।[१] इस

---

१. ऋग्वेद मं० १०, सूक्त ९५, मंत्र १ से १८ तक.

वार्तालाप से ही कथानक का अनुमान लगाया जा सकता है। यह वार्तालाप उस समय का है जब उर्वशी अपने प्रेमी को छोड़कर जाने को तत्पर है। पुरुरवा का हृदय अति विदग्ध है, वे प्रिया से बार-बार और ठहरने का आग्रह करते हैं किन्तु उर्वशी यही उत्तर देती है कि अब अपना वियोग अवश्यम्भावी है और वायु के समान मेरा गृहण दुष्कर है -

पुरुरवः ! पुनरस्तं परेहि
दुरापना वात इवाहमस्मि।

राजा उर्वशी से वियुक्त होकर जीना नहीं चाहते। उनका कथन है कि अब मैं बलहीन एवं निस्तेज हो गया हूं। उर्वशी उन्हें धैर्य धारण कराती हुई समझाती है - "हमने बारह वर्षों तक इच्छानुसार निर्बाध प्रेम-विलास किया है। हे राजन् ! तुम मेरे तन-मन के सम्राट रहे हो। तुमने प्रतिदिन तीन बार मेरा आलिंगन किया है।" राजा पुरुरवा उर्वशी से अपने पुत्र के बारे में पूछते हैं कि हमारा वह मानव मित्र पुत्र रत्न कहां है ? कब हमें वह पिता कह कर पुकारेगा ? हे प्रिया ! पुत्र रूप में तुमने मेरे जीवन को और भी दीर्घ कर दिया है। उर्वशी ने कहा कि महाराज हमारे पुत्र का पालन देवांगनाएँ स्वयं कर रही हैं। उचित समय आने पर मैं तुम्हारे पुत्र को तुम्हारे पास भेजूंगी, उस समय हमारा वियोग हो जायेगा और तुम मुझे रोकने में असमर्थ रहोगे।"

इस वार्तालाप से कुछ बातें स्पष्ट सामने आती हैं। उर्वशी के मन में कुछ गुप्त आशंकाएँ थीं जिन्हें उसने राजा के सामने व्यक्त नहीं किया था इसी कारण उसने राजा को कुछ उपदेश भी दिये थे किन्तु परिणाम की भयंकरता से अवगत न होने के कारण राजा ने उनका पालन नहीं किया।

यह भी निश्चित था कि पुत्र का मुख देखते ही राजा का उर्वशी से वियोग हो जायेगा इसके अतिरिक्त अप्सराएँ सन्तति का पालन स्वयम् नहीं करतीं। इन्हीं कारणों से उर्वशी स्वयम् अपने पुत्र आयु का पालन नहीं करती।

उर्वशी राजा को ऐल कह कर सम्बोधित करती है जिससे ज्ञात होता है कि पुरुरवा ऐल वंशीय थे। अन्त में, वह राजा को यही आश्वासन देती है कि हमारा मिलन स्वर्ग में ही होगा।

'शतपथ ब्राह्मण' में इस कथा का अधिक विस्तार के साथ पल्लवन हुआ है।

उर्वशी इन्द्रलोक की सुन्दरतम अप्सरा थी उसका पुरुरवा से प्रेम हो गया। उसने परिणय से पूर्व राजा के सम्मुख तीन शर्तें रखीं - पहली- प्रतिदिन केवल तीन बार मेरा आलिंगन कर सकोगे, दूसरी- मेरी इच्छा के बिना मेरे पास न सो सकोगे, तीसरी- सहवास के अतिरिक्त मेरे समक्ष नग्न अवस्था में न आ सकोगे।

इसके पश्चात् बहुत समय तक दोनों साथ रहे। उनका अभिसार निर्बाध चलता रहा और उर्वशी गर्भवती हो गईं। जब उर्वशी को राजा के साथ रहते बहुत समय हो गया तो गन्धर्वों ने उसे वापस लाने के लिए एक उपाय सोचा। उर्वशी की शैया के समीप दो मेष शावक बंधे थे जिन्हें वह अत्यधिक स्नेह करती थी। गन्धर्व उन शावकों को अपहृत करके ले गये, उर्वशी उनकी आवाज सुनकर आर्त स्वर से चिल्लाई - 'कोई मेरे बच्चों को ले जा रहा है अरे! यहाँ ऐसा वीर कोई नहीं जो मेरे बच्चों को छुड़ा लाए'। पुरुरवा पुकार सुनते ही दौड़े। वे यद्यपि उस समय नग्न अवस्था में थे किन्तु वीर पुरुष किसी की आर्त पुकार सुनकर भला कैसे रुक सकता है। गन्धर्वों ने क्रम से शावकों को तो छोड़ दिया किन्तु उसी समय विद्युत-प्रकाश कर दिया। राजा को नग्न अवस्था में देखकर उर्वशी अपनी शर्त के अनुसार अन्तर्धान हो गईं। राजा अपनी प्रेयसी को न पाकर बहुत दुःखी हो गये। वे उसकी खोज में कुरुक्षेत्र में भटकने लगे। वहाँ सुन्दर पद्मों से युक्त एक सरसी थी जिसमें कुछ अप्सराएँ हंस रूप में क्रीड़ा कर रहीं थी। राजा विरहावस्था में वहीं तट प्रदेश में भ्रमण कर रहे थे और उर्वशी ने उन्हें पहचान लिया और

उनके समक्ष प्रकट हुई। जब वह पुनः लौटने लगी तो राजा ने बड़े करुण स्वर में उसे रुकने को कहा और अपने दाह-दग्ध हृदय की स्थिति प्रकट की। इससे द्रवित होकर उसने कहा कि एक वर्ष पश्चात् आप आना। मैं एक रात्रि आपके साथ बिताऊंगी तभी हमारे पुत्र का जन्म होगा। एक वर्ष पश्चात् उनका मिलन एक स्वर्ण भवन में हुआ।

यहां राजा ने अभिलाषा व्यक्त की कि यदि हमारा विछोह न होता तो कितना अच्छा होता। उर्वशी ने राजा को गन्धर्वों से वर मांगने की सलाह दी। गन्धर्वों ने वरदान स्वरूप राजा को एक अग्निस्थाली भेंट की। राजा अपने पुत्र व उस स्थाली को लेकर चले। स्थाली को उन्होंने मार्ग में ही छोड़ दिया और घर आकर पुत्र का राज्याभिषेक कर दिया। जब वे पुनः वन में गये तो उस स्थाली के स्थान पर शमी और अश्वत्थ का वृक्ष मिला। राजा ने उन वृक्षों की लकड़ियों से यज्ञ किया और गंधर्वलोक प्राप्त करके वे फिर अपनी प्रेयसी उर्वशी से जा मिले।

'महाभारत' में उर्वशी के विषय में विशेष उल्लेख नहीं है उर्वशी का नाम वसु के प्रसंग में अनुशासन पर्व में आया है। विशेष रूप से उसके अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का इसमें बहुत विस्तृत वर्णन है। राजा पुरुरवा एक वीर प्रतापी राजा थे। उनके पिता इला थे, बुध उनके पितामह थे। ये उर्वशी को गन्धर्व लोक से लाये थे और उसके साथ अनेक रम्य स्थलों पर इच्छित रूप से विहार किया। इनकी प्रिया इन्द्र की अप्सराओं में विशेष लावण्यमयी थी और मद्य-पान से उन्मत्त रहती थी। उसके अंग-प्रत्यंग की क्रीड़ाएं तथा हाव-भाव काम को उद्दीप्त करने वाले थे। उसके शुण्ड के समान लम्बे, लहराने वाले सुकुमार बाहु थे। अंगराग से विलिप्त उसके उन्नत उरोज श्वास-प्रश्वास के साथ धीरे-धीरे हिलते हुए दर्शकों को विचलित कर देते थे उसकी क्षीण कटि पग-पग पर लचक खाती थी। उसके पुष्ट नितम्ब तथा जघन प्रदेश मुनियों के मन को भी विचलित करने वाला था। उसके सुन्दर झीने परिधान से उसकी अंग-कान्ति घनाच्छादित चंद्रमा की कान्ति के समान शोभायमान हो रही थी।

श्री मद् भागवत में ऐसा उल्लेख है कि समुद्र-मन्थन से कल्पवृक्ष के बाद अप्सराएँ प्रकट हुई। उर्वशी इनमें परम सुन्दरी थी उसके लावण्य से प्रभावित होकर एक बार मित्रावरुण में काम जाग्रत हो गया था।
श्री मद् भागवत के नवें और चौदहवें स्कन्ध में पुरूरवा और उर्वशी का आख्यान आया है -

एक समय इन्द्र-सभा में देवर्षि नारद मर्त्यलोक के राजा पुरूरवा के रूप-गुण तेज, शील, ऐश्वर्य आदि का वर्णन कर रहे थे। उसे सुनकर उर्वशी के मन में पुरूरवा को वरण करने की इच्छा बलवती हो गई और वह राजा के समीप पहुँच गई। मर्त्यलोक में उर्वशी के आने का कारण मित्रावरुण का शाप था। राजा ने भी पूर्ण स्वेच्छा से उसे अंगीकार किया। उर्वशी ने राजा को दो मेष शिशु धरोहर-रूप में दिये और उनकी रक्षा का भार राजा पर सौंपा तथा राजा से प्रतिज्ञा ली कि आप सहवास के अतिरिक्त अन्य किसी समय मेरे समक्ष नग्न अवस्था में न आना। कुछ समय पश्चात् इन्द्र का मन उर्वशी के लिए विकल रहने लगा उनकी आज्ञा से गन्धर्व उर्वशी के मेष-शिशुओं को अपहृत करके ले गए। उनका शब्द सुनकर उर्वशी जाग गई और क्रन्दन करने लगी कि मैं तो इस कायर पुरुष के कारण नष्ट हो गई। यह इतना भीरु है कि मेरे बच्चों को भी छुड़ाकर नहीं ला सकता। राजा इन वाक्य-बाणों को सहन न कर सके और नग्न अवस्था में ही शस्त्र लेकर दौड़ पड़े। गन्धर्व भय-ग्रस्त होकर भाग गये किन्तु उन्होंनेउसी समय प्रकाश कर दिया जिससे उर्वशी ने राजा को नग्न देख लिया और वह उन्हें त्याग कर चली गई।

राजा परम दुःखी होकर भ्रमण करने लगे। एक दिन सरस्वती के तट पर पांच सखियों सहित उर्वशी को देखकर राजा ने उससे अपने साथ रहने का आग्रह किया किन्तु उर्वशी ने स्त्रियों के क्रूर तथा विश्वासघाती स्वभाव का वर्णन किया। उसने कहा मैं प्रतिवर्ष एक रात्रि तुम्हारे साथ रहूंगी। वह उस समय गर्भवती थी। पुनः एक वर्षोपरान्त राजा आये तो देखा कि उर्वशी उनके पुत्र की मां बन चुकी थी। उर्वशी को छः पुत्र हुए

वायु उनमें अग्रज था ।

उर्वशी के वियोग में राजा पहले तो आत्म विस्मृत हो गये किन्तु बाद में शोक दूर होने पर उन्हें वैराग्य हो गया । वे अपनी काम प्रवृत्ति से बहुत खिन्न हो कर ग्लानि को प्राप्त हुए और अपनी इस मोहान्धता को धिक्कारने लगे । धीरे-धीरे उनका विकार दूर हो गया और उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हो गया ।

इस आख्यान में तथा शतपथ ब्राह्मण और ऋग्वेद के आख्यान में बहुत साम्य है ।

अग्नि पुराण में पुरुरवा को बुध का पुत्र माना है । पुरुरवा परम तेजस्वी, वीर सत्यवादी, दानशील, यशस्वी धर्मज्ञ थे । उर्वशी ने स्वयम् निरभिमान होकर उनका वरण किया था । राजा पुरुरवा ने अनेक रमणीक प्राकृतिक स्थलों में उर्वशी के साथ विहार किया । इस पुराण में उर्वशी के पुत्रों के बारे में भिन्नता है शेष कथा में साम्य है । वायु को इसमें भी अग्रज ही माना गया है ।

विष्णु पुराण तथा वायु पुराण में भी उर्वशी तथा पुरुरवा का प्रसंग आया है । उर्वशी के पुत्रों के नामों में भिन्नता है किन्तु वायु यहाँ भी अग्रज ही है । इसमें पुरुरवा को प्रतिष्ठानपुर का शासक माना गया है ।

मत्स्य पुराण में पुरुरवा की उत्पत्ति बुध से ही मानी गई है । इसमें वैवस्वतमनु के दस पुत्रों में एक इला को माना गया है । मनु इला का अभिषेक करके वन को चले गये । इला एक बार भ्रमण करते हुए ऐसे अभिशप्त स्थान पर पहुँच गये जहाँ कोई भी पुरुष प्रवेश करते ही नारी-रूप हो जाता था । इस प्रकार राजा इला स्त्री (इला) के रूप में परिवर्तित हो गये । एक बार सोमपुत्र बुध, उन पर आसक्त हो गये और वे इला के साथ विहार करने लगे, तथा इला को बुध से एक पुत्र हुआ जिसका नाम पुरुरवा प्रसिद्ध हुआ ।

तत्पश्चात् महादेव-पार्वती की कृपा से इला पुनः पुरुषत्व प्राप्त करके सुद्युम्न नाम से प्रसिद्ध हुए ।

एक बार धर्म, अर्थ, काम चरित्र की परीक्षा के लिए राजा पुरुरवा के यहां पधारे । राजा की प्रवृत्ति धर्म में अधिक देखकर अर्थ और काम ने उसे शाप दिया कि तू लोभवश विनाश को प्राप्त होगा तथा उर्वशी के वियोग में गन्धमादन पर प्रमण करेगा ।

मत्स्य पुराण में आगे लिखा है कि एक बार दानवेन्द्र केशी उर्वशी को उसकी सखी चित्रलेखा सहित अपहरण करके ले जाने लगा तो पुरुरवा ने उनकी रक्षा की और उन्हें मुक्त किया । इस घटना पर प्रसन्न होकर सुरपति इन्द्र ने एक उत्सव आयोजित करके राजा को निमन्त्रित किया । इसमें भरत-रचित 'लक्ष्मी-स्वयम्वर' नाटक का अभिनय किया गया । मेनका, रम्भा, उर्वशी उसमें अभिनय कर रहीं थीं । उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय कर रही थी । राजा को देखकर वह काम-पीड़ित हो गई और उसके अभिनय में त्रुटि आ गई । भरत ने उसे लता व पुरुरवा को पिशाच होने का शाप दिया । बाद में दोनों का मिलन हुआ और शाप से मुक्त होने पर उनके आठ पुत्र हुए । आयु को मत्स्य पुराण में भी अग्रज माना गया है । अन्य घटनाएँ मत्स्यपुराण में बहुत भिन्न हैं व विशेष महत्वप रखती हैं ।

इनके अतिरिक्त पद्मपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, स्कन्द पुराणादि में भी उर्वशी-पुरुरवा के आख्यान का उल्लेख है । इनमें अन्य कथाओं से भिन्न कोई विशिष्ट उल्लेख नहीं है । उर्वशी के पुत्रों के नामों में भेद है व कहीं पाँच, कहीं सात, कहीं आठ पुत्रों का उल्लेख है किन्तु आयु को सभी में अग्रज ही माना गया है ।

'विक्रमोर्वशीयम्' में महाकवि कालिदास ने उर्वशी-पुरुरवा की कथा समन्वयात्मक ढंग से प्रस्तुत की है ।

विक्रमोर्वशीयम् की कथा संक्षेप में इस प्रकार है -

पुरुरवा बहुत वीर प्रतापी राजा थे। उनके शौर्य की धाक देवों-दानवों में भी मानी जाती थी। देवता स्वर्ग युद्ध में उनसे सहायता प्राप्त करते थे। एक बार वे सूर्योपासना करके वन से लौट रहे थे कि उन्हें किसी का आर्तनाद सुनाई पड़ा। राजा तुरन्त सहायता के लिए अग्रसर हुए तो देखा कि कुछ अप्सराएँ पुकार रहीं थी कि 'केशी नाम का दैत्य हमारी सखी उर्वशी को ले जा रहा है कोई रक्षा करो'। पुरुरवा उर्वशी को मुक्त कराकर रथ में ले गये और हेमकूट पर्वत पर उसकी सखियों के पास छोड़ दिया। यहीं उर्वशी पुरुरवा दोनों के मन में राग उत्पन्न हो गया। तभी देवराज इन्द्र का भेजा हुआ चित्ररथ गन्धर्व आया और उसने राजा को इन्द्र से मिलने के लिए आग्रह किया किन्तु राजा ने प्रेमपूर्वक उसके आग्रह को टाल दिया और हृदय में उर्वशी की छवि व प्रेम धारण किये हुए राजधानी वापस आ गये। उर्वशी भी मन हारकर तृष्णित नेत्रों से राजा को देखती हुई, सखियों के साथ स्वर्ग चली गई।

उर्वशी के प्रेम ने राजा को काम-विह्वल बना दिया। वे उर्वशी को किसी प्रकार भी प्राप्त करने के लिए आकुल रहने लगे। एक बार राजा मन बहलाने के लिए विदूषक के साथ प्रमद वन में गये किन्तु वहाँ के मनोहारी प्राकृतिक सौन्दर्य ने उनकी व्याकुलता में उद्दीपन का ही कार्य किया। वे सोचने लगे कि उनकी प्रिया कितनी निष्ठुर है जो उनकी अवस्था पर तरस खाकर मिलने भी नहीं आई। उर्वशी चित्रलेखा के साथ वहीं वन में छिपी हुई राजा और विदूषक का वार्तालाप सुन रही थी। वह राजा के प्रेमाधिक्य को देखकर तुरन्त राजा के सामने उपस्थित हो गई। उसी समय देव वाणी सुनाई दी कि 'इन्द्र आज ही समस्त लोकपालों के साथ भरत द्वारा नियोजित नाटक देखना चाहते हैं।' इससे उर्वशी और चित्रलेखा को शीघ्र ही वहाँ से लौट जाना पड़ा। उर्वशी ने अपनी दशा का वर्णन एक भोजपत्र पर लिखकर किया। राजा ने उसी भोजपत्र से मन बहलाने का प्रयत्न किया किन्तु वह हवा में वहीं उड़ गया और रानी औशीनरी के हाथ पड़ गया। रानी पुरुरवा

को सोचती हुई आ रही थी । वह भोजपत्र को पढ़कर बहुत क्रोधित हो गई । राजा ने बहुत क्षमा याचना की किन्तु रानी नाराज होकर भवन को लौट गई ।

इसके पश्चात् स्वर्ग में भरत-रचित नाटक अभिनीत किया गया । इस नाटक में उर्वशी ने लक्ष्मी का और मेनका ने वारुणी का अभिनय किया था । वारुणी ने जब लक्ष्मी से पूछा - 'सखी ये त्रैलोक्य के सुपुरुषगण, पुरुषोत्तम तथा लोकपाल उपस्थित हैं, इनमें से तुम किसे चाहती हो ?' [१] उर्वशी के मुख से पुरुषोत्तम के स्थान पर पुरुरवा निकला; इससे क्रोधित होकर भरत ने उसे शाप दे दिया किन्तु इन्द्र ने कृपा करके उसे पुरुरवा के साथ यथेच्छ निवास का आदेश दिया और कहा कि राजा जब सन्तान का मुख देखेगा तभी तुम्हारा वियोग हो जायेगा ।

इधर रानी औशीनरी ने राजा की अवहेलना की तो सही परन्तु उसे बहुत पश्चात्ताप होने लगा । राजा को पुनः प्रसन्न करने के लिए उसने चन्द्रमा-विशाखा को साक्षी बनाकर प्रियानुप्रसादन नामक व्रत का अनुष्ठान किया । चन्द्रारोहण करने के पश्चात् जब रानी वन से चली गई तब उसी रात्रि को अभिसारिका वेष में वहाँ उर्वशी प्रकट हुई । बहुत समय तक पुरुरवा-उर्वशी का विलास चलता रहा ।

उर्वशी को जब राजा के साथ निवास करते काफी समय बीत गया तो चित्रलेखा अपनी सखी से बिछुड़ने के कारण दुखी रहने लगी । इधर राजा को भी प्रेयसी का वियोग सहना पड़ा । उसका कारण यह था कि एक दिन राजा उर्वशी के साथ गन्धमादन पर विहार करने गये वहाँ एक गन्धर्व-बाला बालुका में क्रीड़ा कर रही थी राजा पुरुरवा उसे अपलक देखने लगे इससे उर्वशी रुष्ट हो गई । राजा ने उसे मनाने का बहुत प्रयत्न किया लेकिन वह वहाँ रुकी नहीं और ऐसे स्थान पर चली गई जहाँ स्त्रियों का जाना निषिद्ध था और वहाँ

---

१. सखि समागता एते त्रैलोक्य सुपुरुषाः स केशवाश्च लोकपालाः ।
कतमस्मिन्ते भावा। मनिवेश इति ।
(विक्रमोर्वशीयम् तृतीयो अंकः)

और वहाँ वह शापवश लतारूप हो गई। प्रेयसी के अकस्मात् लुप्त हो जाने से राजा बहुत व्यग्र हो गए और उसकी खोज में इधर-उधर भटकने लगे। विरहोन्माद की अवस्था में वे जलद, मयूर, हंस, पिक, पर्वत, अरितावों आदि से प्रेयसी का पता पूछते फिरते रहे। रास्ते में उन्हें एक मणि दिखाई दी। किसी मुनि के कहने से उन्होंने उसे उठा लिया। यह संगमनीय मणि थी जो कि प्रिय से मिलाप कराने में सक्षम थी। भटकते-भटकते राजा को एक कमनीय लता दिखाई दी राजा उससे आकर्षित हो कर उधर ही बढ़े और लता से लिपट गये। संगमनीय मणि का स्पर्श पाते ही वह लता उर्वशी रूप में परिणत हो गई। विरहसन्तप्त राजा को अतीव प्रसन्नता हुई और वे प्रिया को लेकर राजधानी चले गये।

अंत में एक दिन राजोद्यान में एक दासी वह मणि कहीं ले जा रही थी कि एक गृध्र उसे मांस का टुकड़ा समझ कर झपट कर ले उड़ा। राजा ने उसकी तलाश का आदेश दिया। तभी एक नामांकित बाण और उस मणि के साथ कंचुकी ने प्रवेश किया। उस बाण पर अंकित था - 'यह बाण पुरुरवा-उर्वशी के पुत्र आयु का है'। उसी समय च्यवनाश्रम से एक तापसी के साथ कुमार आयु का प्रवेश हुआ। तापसी ने उर्वशी को उसकी धरोहर (पुत्र) वापस लौटा दी।

पुत्र प्राप्ति के साथ ही उर्वशी को इन्द्र के शब्द स्मरण हो आये और वह दुःखी हो गई। राजा ने उससे दुःखी होने का कारण पूछा तब उर्वशी ने स्वर्ग का सारा पिछला वृत्तान्त सुनाया। इससे पुरुरवा का हृदय भी व्यथित हो गया। वे आयु का राज्याभिषेक करके वन-गमन की तैयारी करने लगे तभी वहाँ नारद मुनि प्रकट हुए और उन्हें देवराज इन्द्र का सन्देश सुनाया - 'आप शस्त्र का त्याग न करें। निकट भविष्य में देवों-दानवों का युद्ध होने वाला है उसमें आप हमारी सहायता करेंगे। उर्वशी भी आजीवन आपकी सहधर्मिणी होकर रहेगी'। इस समाचार से सभी आनन्दित हो गये।

इस प्रकार इस नाटक में कथा का सुख पूर्ण अन्त होता है।

कवि दिनकर-रचित उर्वशी की कथा इस प्रकार है -

राजा पुरुरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के समीप एक एकान्त कानन में नटी और सूत्रधार शुक्ल पक्ष की रात्रि में प्राकृतिक सौन्दर्य का अवलोकन कर रहे हैं। प्रकृति का सारा वातावरण मादकता से पूर्ण है उसी समय कुछ अप्सराएँ धरती पर उतरती हैं और ज्योत्स्ना-स्नात रजनी में पृथ्वी के अनुपम सौन्दर्य को देख मुग्ध हो जाती हैं। रम्भा कहती है कि इस समय शीतल चन्द्रिका में मही को निद्रा-निमग्न देख कर स्वर्ग को भी ईर्ष्या हो रही होगी। मेनका ने जब पूछा कि स्वर्ग और मर्त्यलोक में क्या अन्तर है तो रम्भा कहती है कि मर्त्यलोक मरणशील है और सुरलोक अमर है। इस पर मेनका कहती है कि स्वर्ग को चाहे अमरत्व प्राप्त हो किन्तु धरती के क्षण भर की उन्मद तरंग पर स्वर्ग की चिरता भी नगण्य है। सहजन्या व्यंग्य करती है कि उर्वशी की भाँति तुम्हारे मन में भी कोई मिट्टी का मोहन आ बसा है। उर्वशी का नाम सुनते ही सब अप्सराएँ उर्वशी के बारे में पूछने लगती हैं। सहजन्या सुनाती है कि 'एक दिन हम सब सखियाँ कुबेर के घर से लौट रहीं थी कि एक दैत्य उर्वशी को बलात् ले उड़ा। हमारी आर्त पुकार सुनकर एक राजा अविलम्ब दौड़े और उर्वशी को मुक्त करा लाए। ये राजा परम सुन्दर और अपरिमित बलशाली हैं। हमारी सखी उर्वशी, जिस पर त्रिभुवन मुग्ध है, राजा पर मन हार बैठी है। जो प्रीति उसके प्राणों में जगी है उसने उसका सौन्दर्य मलिन कर दिया है। वह अपने प्रेमी से सब कुछ त्यागकर मिलने को आतुर है।' उर्वशी की ऐसी अवस्था सुनकर रम्भा को बहुत दुख होता है कि हमारा प्रेम तो अमुक्त, उच्छल है। उर्वशी मर्त्यमानव से प्रेम करके अपना सौन्दर्य ही विनष्ट कर डालेगी क्योंकि पृथ्वी पर तो मातृत्व अवश्यम्भावी है। इस पर मेनका कहती है यद्यपि स्त्री का शरीर मातृत्व ग्रहण करने पर ढलता है किन्तु मुझे तो वही

पयस्विनी नारी ही अधिक रूपमती लगती है ।[१] तभी चित्रलेखा का प्रवेश होता है । वह सखियों को बतलाती है कि आज शाम से ही उर्वशी प्रियतम से मिलने को विकल थी । उसे राजा के अभाव में स्वर्ग भी फीका लग रहा था अत: अभी उसे खूब फूलों से सजा कर राजा के उपवन में छोड़ आयी हूँ । जैसे ही रानी यहाँ से जायेंगी उर्वशी का राजा से मिलन होगा । जब मेनका पूछती है कि क्या उर्वशी की भाँति राजा भी उससे मिलने को आतुर है तो चित्रलेखा कहती है कि 'आग उभय-दिक् सम है' । किन्तु पुरूरवा एक स्वाभिमानी राजा हैं जो प्रणय की भीख नहीं माँगते । उन्हें विश्वास है कि यदि मेरी पुकार सच्ची है तो वह अवश्य स्वर्ग तक पहुँचेगी । आखिर उनके प्रेम का आकर्षण उर्वशी को धरातल पर खींच लाता है ।

उर्वशी के आगमन का समाचार रानी औशीनरी को भी प्राप्त होता है । निपुणिका कहती है कि आज उर्वशी महाराज से मिलने आई है वह अनन्त सुन्दरी, नर के सुप्त-शान्त शोणित में आग लगाने वाली है । महाराज उसके मधुमत्त यौवन के आगे स्वयं को हार चुके हैं । रानी दुखी होकर मरण को ही वरण करना चाहती है किन्तु निपुणिका रानी को पुरूरवा का यह सन्देश सुनाती है कि एक वर्ष पश्चात् पुत्र-प्राप्ति के लिए महाराज नैमिषेय यज्ञ करेंगे, उसमें प्रीता नहीं परिणीता ही काम आ सकेगी । वह रानी को धैर्य बंधाती है कि आप जैसी श्रेष्ठ पत्नी को तज कर महाराज स्वर्वेश्या के प्रेम-पाश में कब तक बंधे रहेंगे । औशीनरी कहती है कि मैं रानी होकर भी अप्सरा से हार गयी । आखिर ऐसा कौन सा पुष्प है जो मैंने राजा की प्रणय वेदी पर अर्पित न किया हो । आखिर उस गणिका का क्या मैंने ऐसा कौन सा अहित किया था जो वह मुझे इस प्रकार तड़पा रही है ।

---

१. "गलती है हिम शिला, सत्य ही गठन देह की खोकर,
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर"
उर्वशी - प्रथम अंक, पृष्ठ १६.

इसी समय कन्चुकी समाचार देता है कि हमारे सैनिक महाराज को गन्धमादन पर्वत पर सकुशल छोड़कर आ गये हैं। महाराज ने आपके लिए सन्देश भेजा है कि 'यहाँ की जलवायु बहुत ही सुखद है, प्रकृति बहुत ही आनंददायी है किन्तु एक वंशधर के अभाव में सब फीका लगता है अत: तुम ईश्वर की आराधना करती रहो। मैं भी यहाँ ईश्वराराधन में लीन हूँ।' रानी इस सन्देश पर व्यथित होकर व्यंग्य करती है कि यह अप्सरा के साथ विहार करना कैसी आराधना है। फिर भी गरिमामयी रानी राजा की मंगलकामना करती है।

इधर गन्धमादन पर राजा पुरूरवा और उर्वशी की प्रेम-क्रीड़ा चलती रहती है। उर्वशी और पुरूरवा अपने पूर्वानुराग और विरह-व्यथा की कथा सुनाते हैं। राजा कहते हैं कि 'जब से तुम्हें देखा मन तो तभी से, तुम्हें पाने के लिए विकल था, किन्तु मैंने हठात् छीन कर किसी से कुछ प्राप्त नहीं किया। सारी सम्पदाएँ स्वयमेव ही मुझे प्राप्त होती रही हैं। न ही मैं किसी प्रकार से भीख माँगकर तुम्हें लाना चाहता था। मेरा मन यही कहता था कि यदि मेरा प्रणय सच्चा है तो तुम अवश्य स्वयम् भूतल पर आओगी।' उर्वशी कहती है कि मैं स्वयम् आ तो गयी किन्तु इसमें वह आनन्द कहाँ जो उन रमणियों को प्राप्त होता है जिन्हें कि बलशाली पुरुष बल से हरण करते हैं। राजा इस कार्य की भर्त्सना करते हैं। वे कहते हैं कि 'अनासक्ति केवल इतर इच्छाओं को ही नहीं प्रणय को भी पवित्र करती है।' राजा की इस अनासक्ति से उर्वशी स्तब्ध हो जाती है उसे आशंका होती है कि देवलोक को त्यागकर क्या फिर मैं किसी देव के ही परिरम्भ-पाश में बंध गई? उर्वशी कहती है कि अनासक्ति के वश होकर कहीं तुम मुझे त्याग तो न दोगे? राजा कहते हैं कि यद्यपि मेरा मन त्रिधा से ग्रस्त है किन्तु फिर भी तुम्हें देखते ही मेरी तृष्णा और बढ़ती जाती है। मन तुम्हारा चुम्बन-आलिंगन पाकर और भी रसमग्न हो जाता है। उर्वशी कहती है कि जब तक मनुष्य में यह पावक धधक रहा है तभी तक सुर भी उसके आगे नत-मस्तक हैं। मैं स्वयम्

तुम्हारे पाद को अधरों का रस पिलाकर शीतल करने आयी हूँ। वास्तव में बुद्धि से अधिक ज्ञानी और बली रक्त है। बुद्धि तो हमें संकल्प-विकल्प के भँवर में फँसा देती है जबकि रक्त आनन्द-ग्रहण करता है। रुधिर का उन्माद केवल प्रेमाग्नि को ही नहीं भड़काता बल्कि मन में किसी कान्त कवि को भी जन्म दिया करता है।

धीरे-धीरे दोनों प्रेमी आलिंन-पाश में बंधे अनिवर्चनीय आनन्द में डूब जाते हैं। वातावरण भी उनकी भावुकता में जैसे अधिक मादक हो उठता है। उर्वशी कहती है कि "वास्तव में प्रकृति और परमेश्वर को भिन्न मानना हमारा भ्रम है। हम अनवरत रूप से प्रकृति की रसधार में बहते रहें यही परमेश्वर की आराधना का एक रूप है। प्रकृति के प्रांगण में सहज जीवन बिताते जाना ही सार्थक है। उदास-सहज काम बन्धन का ही नहीं मुक्ति का प्रतीक है। राजा कहते हैं कि वास्तव में हमारा मिलन आज का ही नहीं; सदा से ही तुम मेरी हो और मेरी ही रहोगी। चिरन्तन नारी और नर के रूप में हमारा संयोग भी चिरन्तन है।

इस प्रकार राजा पुरुरवा और उर्वशी एक वर्ष पर्यन्त गन्धमादन पर आनन्द विहार करते हैं तत्पश्चात् राजा प्रतिष्ठानपुर लौट कर पुत्र-प्राप्ति के लिये यज्ञ में लीन हो जाते हैं। उर्वशी च्यवन मुनि के आश्रम में पुत्र को जन्म देती है। च्यवन-पत्नी सुकन्या और चित्रलेखा में मधुर विनोद वार्ता चल रही है। सुकन्या उर्वशी के नवजात शिशु को देखकर कहती है कि यह न जाने पिता के समान रक्त का लोभी होगा या देवों के समान मात्र गन्धों का प्रेमी! चित्रलेखा कहती है कि कभी-कभी शून्य नभ में भी इन्द्रधनुष खिल जाता है। क्या तुम्हें याद नहीं जब मुनि तुम्हारा स्पर्श पाकर कितने व्याकुल होकर जागे थे? किन्तु सुकन्या कहती है कि मुझे तो अपने महर्षि पति पर गर्व है। चित्रलेखा कहती है कि वे पुरुरवा महान हैं जिनका योग-तप उनके प्रणय में बाधक न होकर उसे और भी महान बना देता है। वास्तव में केवल मन का प्रेम अधूरा है। तन-मन जब दोनों ही एकाकार हो जाते हैं तभी मनुष्य जीवन के सर्वोच्च शिखर पर

पहुँचता है। सुकन्या कहती है कि नारी के पास एक ही हृदय होता है अतः वह एक ही पुरुष को अर्पित किया जा सकता है। इसलिए अच्छा यही है कि समय रहते ही किसी एक के साथ ही जीवन का तार बाँध लिया जाय। चित्रलेखा कहती है मुझे किसी की तृष्णा नहीं है। मैं तो यही चाहती हूँ कि मेरे यौवन का सोम इसी प्रकार बरसता रहे। सुकन्या कहती है कि अप्सराओं का यौवन अक्षुण्ण है और मानुषी का यौवन क्षणिक। किन्तु फिर भी यौवन ढल जाने पर भी हमारा हृदय जीर्ण नहीं होता हम तो पुरुष के साथ ही जीवन के सुख भोगते हैं और साथ ही वृद्ध होते हैं। मेरे ऊपर कृपा करके महर्षि ने वृद्ध-शरीर होने पर भी फिर से तपस्या से यौवन ग्रहण किया। उन्होंने मुझे अपने तप की सिद्धि ही माना। महर्षि की नारियों पर अपार श्रद्धा है। वे कहते हैं कि नारी ही वह कोष्ठ है जहाँ ईश्वर भी देवों-दानवों से छिपकर आकार ग्रहण करता है।

उसी समय उर्वशी का प्रवेश होता है। पुत्र को देखते ही उसका सारा वात्सल्य उमड़ पड़ता है किन्तु पुत्र से बिछुड़ने का ध्यान आते ही वह दुःखी हो उठती है उसे भरत के दारुण शाप का ध्यान आ जाता है कि पुत्र और पति नहीं; पुत्र या केवल पति ही उसे मिल सकेगा। सुकन्या कहती है कि इतना दारुण शाप देने से तो अच्छा था कि भरत तुम्हें जला कर भस्म कर देते तो इस पर चित्रलेखा कहती है कि भस्म कर देते तो कौन फिर देवताओं का रंजन करता। सच है इसी लिये देवों ने अप्सरा को मातृत्व से वंचित रखा जिससे कि वे कहीं माता बनकर कहीं भूमि पर ही न रह जायँ।

उर्वशी मारी मन से सुकन्या से कहती है कि सखी मेरे पुत्र आयु का पोषण तुम्हें ही करना है। सच ही वह दिन कितना विषम होगा जब पुत्र और पति दोनों से ही मेरा वियोग हो जायेगा किन्तु और कोई उपाय भी नहीं है। इस पृथ्वी पर तो सुख-दुःख दोनों का ही वास है। सुकन्या उर्वशी को आश्वासन देकर विदा करती है और उर्वशी से कहती है कि समय आने पर मैं आयु को पिता के पास पहुंचा दूंगी।

उर्वशी को राजा के साथ रहते बहुत समय व्यतीत हो जाता है तो एक दिन राजा को बड़ा ही विलक्षण स्वप्न आता है। राजा दिन में भी उस स्वप्न को भूल नहीं पाते और बड़े ही अन्यमनस्क से राजसभा में बैठे हैं। महामात्य राजा से उनकी चिन्ता का कारण पूछते हैं तो राजा अपना स्वप्न सुनाते हैं कि - "मैंने देखा कि प्रतिष्ठानपुर के लोग एक नव्य वट-पादप प्रांगण में रोप रहे हैं। मैं भी उसे सींचने के लिए क्षीर-घट लिए खड़ा हूँ, किन्तु बिल्कुल अपरिचित सा इसके पश्चात् मैं एक वृद्ध हाथी पर बैठकर कानन में पहुँच गया हूँ। वहाँ हाथी भी लुप्त हो गया है और मैं व्यथनाश्रम पहुँच गया हूँ। वहाँ मैंने वसुंधरा के निकट एक भव्य बालक को देखा जो कि अपनी प्रत्यंचा साँध रहा था। मैं ज्यों ही उस बालक को भेंटने दौड़ा कि वह विलीन हो गया"। व्यथनाश्रम और बालक का नाम सुनकर उर्वशी व्याकुल हो जाती है और बार-बार पानी माँगती है। अपाला उसे सांत्वना देती है। राजा उर्वशी से भय का कारण पूछते हैं। वे कहते हैं कि स्वप्न में मैंने सुन्दरा सद्यःप्रस्फुटित कमल-सा मुख देखा, किन्तु ज्योंही मैं उसे आलिंगन करने दौड़ा, वह विलीन हो गया और मैं जलद-खण्ड के समान आकाश में तैरता रहा।

राज ज्योतिषी इसको सुनकर ग्रहफल निकाल करके बताते हैं कि महाराज आज शाम तक आप पुत्र का राज्याभिषेक करके प्रव्रजित हो जायेंगे।

इधर उर्वशी भय-शोक से विह्वल होकर कहती है कि आह क्रूर अभिशाप तेरी ज्वाला बड़ी प्रबल है। उसी समय कुमार आयु के साथ सुकन्या का प्रवेश होता है। सुकन्या उर्वशी से कहती है कि सोलह वर्ष पूर्व तुमने जो धरोहर सौंपी थी उसे आज लौटाने आई हूँ। पुत्र को देख कर राजा की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। वे उर्वशी से पूछते हैं, देवि हमारे वंश के इस दीप का जन्म कब हुआ? उर्वशी कहती है - महाराज सोलह वर्ष पूर्व जब आप पुत्रेष्टि यज्ञ में लीन थे तभी इसका जन्म हुआ था। राजा पुत्र

को हृदय से लगा लेते हैं इतने ही में उर्वशी अन्तर्धान हो जाती है। राजा उर्वशी को न देखकर व्याकुल हो जाते हैं और उसकी खोज का आदेश देते हैं। संध्या राजा को भरत के शाप का वृत्तान्त सुनाती है और समझाती है कि अब उसे सोचने से कोई लाभ नहीं। राजा यह सुनते ही क्रोधित हो कर कहते हैं कि मैं देवों से युद्ध करके पुनः उर्वशी को प्राप्त कर लूँगा अथवा यदि समुद्र ने उसे फिर अंक में छिपा लिया होगा तो उसे भी मथ कर मैं अपनी प्रिया को फिर बाहर ले आऊँगा। महामात्य राजा को समझाते हैं कि देवों से युद्ध करना उचित नहीं क्योंकि इससे दानव अनुचित लाभ उठायेंगे। राजा कहते हैं कि ऐसा लगता है कि तुम्हारे मन में भय समाया हुआ है। किन्तु तभी नेपथ्य से आवाज आती है - मैं चन्द्र वंश का प्रारब्ध हूँ। हे राजन् सावधान देवताओं से युद्ध करना हितकर नहीं है। मनुष्य को सुख-दुःख तो अपने कर्मानुसार भोगने ही पड़ते हैं। कामिनी का आकर्षण अब तुम्हें शान्ति नहीं दे सकता। अब ईश्वराराधन ही तुम्हारा कल्याण करेगा। राजा को चेत होता है कि ठीक है। मैं व्यर्थ ही अब तक माया-मोह के भुलावे में फँसा रहा। मैं अब अधिक नहीं भूल सकता। जब भगवान भास्कर दिन भर तपने के बाद संध्या को रश्मियां समेट कर प्रस्थान कर जाते हैं फिर मैं ही क्यों तपता रहूँ? राजा पुरुरवा आयु के मस्तक पर राज मुकुट रख कर प्रव्रजित हो निष्क्रमण कर जाते हैं। इसी समय औशीनरी का प्रवेश होता है किन्तु वह राजा को न पाकर निराश हो जाती है। किन्तु आयु को देखकर मातृभाव से उसे हृदय से लगा लेती है।

पौराणिक कथा-सन्दर्भों पर आधृत समन्वित कथा -

पुराणों में पुरुरवा और उर्वशी से सम्बन्धित कथा के विभिन्न सूत्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं किन्तु कहीं भी कथा का सम्पूर्ण क्रम नहीं मिलता। इन सूत्रों को जोड़कर जो तथ्य गृहीत किये जा सकते हैं, वे इस प्रकार हैं -

पुरुरवा ऐल वंशी, वीर तथा प्रतापी राजा थे। उनकी पत्नी का नाम औशीनरी था। एक बार वे वन में विश्राम कर रहे थे तभी एक असुर उर्वशी को हठात् ले उड़ा। राजा ने असुर से उर्वशी को मुक्त किया,। उर्वशी राजा के पराक्रम व सौन्दर्य पर मुग्ध हो गई। राजा पुरुरवा भी उस पर आसक्त हो गये।

कुछ समय बाद राजा ने देवासुर संग्राम में देवों की सहायता की और वे विजयी हुए। देवों ने राजा के सम्मान में एक उत्सव आयोजित किया इसमें उर्वशी तथा अन्य अप्सराओं ने अभिनय किया। उर्वशी से उसमें कुछ त्रुटि हो गई इससे भरत ने शाप दिया कि तुम और पुरुरवा साथ-साथ नहीं रह सकोगे। इन्द्र ने उर्वशी पर कृपा करके कहा कि राजा से तुम्हारा वियोग तभी होगा जब वे पुत्र का मुख देखेंगे।

उर्वशी राजा के साथ निवास करने के लिए तत्पर हुई और उसने तीन शर्तें राजा के सम्मुख रखीं और कहा कि इनकी अवहेलना होने पर वह चली जायेगी राजा इन शर्तों को स्वीकार करके उर्वशी के साथ विहार करने लगे। उनको विहार करते जब बहुत समय हो गया तो देवराज इन्द्र की आज्ञा से गन्धर्व कुछ योजना बनाकर उर्वशी की शर्तों की अवहेलना कराने में सफल हो गये और राजा का उर्वशी से वियोग हो गया।

पुनः मानस के तट पर राजा का उर्वशी से साक्षात्कार हुआ। इस समय उर्वशी गर्भवती थी एक वर्ष पश्चात् स्वर्ण-भवन में दोनों का फिर मेल हुआ। इस अवधि में उर्वशी ने पुत्र को जन्म दिया (पुत्रों की संख्या में पुराणों में भिन्नता है किन्तु आयु को सर्वत्र अग्रज ही माना है)।

उर्वशी के पुत्र का पालन मुनि च्यवन की पत्नी सुकन्या ने किया। युवा होने पर सुकन्या ने आयु को राजा को सौंप दिया किन्तु पुत्र का पिता से मिलाप होते ही शापवश उर्वशी अन्तर्धान हो गई। राजा पुरुरवा आयु को

अभिशप्त करके वन चले गये । पुन: तप के प्रभाव से उन्होंने गन्धर्व लोक प्राप्त किया और उर्वशी से जा मिले ।

इस कथा में से दिनकर ने जो सूत्र ग्रहण किये वे निम्नलिखित हैं -

पुरुरवा वीर और प्रतापी ऐल वंशी राजा हैं । उनकी पत्नी का नाम औशी मती है ।

एक दिन एक दैत्य उर्वशी का अपहरण करके ले जाता है (दिनकर ने दैत्य का नामोल्लेख नहीं किया) राजा पुरुरवा उसे दैत्य से मुक्त करते हैं । इसी अम्य दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं । कुछ काल पश्चात् दोनों का मिलन होता है । दिनकर ने उर्वशी की तीन शर्तों का उल्लेख नहीं किया ।

गन्धमादन पर्वत पर एक वर्ष पर्यन्त राजा उर्वशी के साथ विहार करते हैं ।

च्यवनाश्रम में उर्वशी एक पुत्र को जन्म देती है और उसे वहीं छोड़कर पुन: राजा के पास प्रतिष्ठानपुर आ जाती है (पुराणों में भी ऐसा उल्लेख है कि अप्सराएँ स्वयं सन्तति का पालन नहीं करतीं) ।

आयु जब सोलह वर्ष का हो जाता है तो सुकन्या उसे माता-पिता को सौंपने के लिए राज दरबार में लाती है इस घटना का आभास राजा को स्वप्न में हो जाता है (पुराणों में राजा के स्वप्न का कोई उल्लेख नहीं है) ।

जैसे ही राजा पुत्र का मुख देखता है उर्वशी अन्तर्धान हो जाती है । राजा प्रिया को पुन: प्राप्त करने के लिए शस्त्र ग्रहण करने लेते हैं, किन्तु सुकन्या उन्हें मरत-शाप की घटना सुना कर शान्त करती है । इससे राजा अपने पुत्र आयु का राज्याभिषेक करके प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं ।

पुराणों में औशीनरी के विषय में अधिक नहीं उल्लेख नहीं है किन्तु दिनकर ने स्थान-स्थान पर रानी औशीनरी का उल्लेख किया है और उसके प्रति सहानुभूति व सम्मान भी व्यक्त किया है।

इन सूत्रों के अतिरिक्त दिनकर के काव्य में और जो तथ्य हैं उन पर कवि कालिदास के `विक्रमोर्वशीयम्` प्रभाव अधिक प्रतीत होता है। `उर्वशी` और विक्रमोर्वशीयम् में साम्य-वैषम्य इस प्रकार है -

`विक्रमोर्वशीयम्` के समान दिनकर ने भी नाट्य शैली का ग्रहण किया है।

`विक्रमोर्वशीयम` में प्रथम अंक में उर्वशी के अपहरण की घटना घटित होते हुए दिखाई गई है जबकि दिनकर उर्वशी के अपहरण की घटना का वर्णन सखियों से करवाते हैं किन्तु घटना दोनों समान हैं। राजा पुरुरवा उर्वशी को मुक्त करा लाते हैं और वह राजा के प्रति आसक्त हो जाती है।

`उर्वशी` में अप्सराओं में परस्पर वार्तालाप होता है तभी चित्रलेखा आ पहुंचती है और सूचना देती है कि आज संध्या से ही उर्वशी महाराज से मिलने को अत्यन्त विकल थी अत: मैं उसे सबकी नजरों से बचा कर राजा के उपवन में छोड़ आई हूँ।[१]

`विक्रमोर्वशीयम्` में भी चित्रलेखा को उर्वशी की अन्तरंग सखी दिखाया गया है। उर्वशी सखी के सामने प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा व्यक्त करती है। वे दोनों छिप कर राजा तथा विदूषक का वार्तालाप सुनती हैं।

---

१. चित्रलेखा - आज साँझ को ही उसको फूलों से खूब सजा कर
सुरपुर से ले आयी बाहर सबकी आँख बचा कर।
उर्वशी - अंक १ पृष्ठ २१.

राजा उर्वशी के विरह में किसी प्रकार मन को सांत्वना देने का प्रयत्न कर रहे हैं। तभी उर्वशी अभिसारिका वेश में राजा के सम्मुख उपस्थित हो जाती है।[१]

उर्वशी और राजा के प्रणय का पता औशीनरी को चल जाता है "उर्वशी" में निपुणिका रानी को सब बातों से अवगत कराती है। रानी दुःखी तो होती है किन्तु अपने भाग्य पर निःश्वास भर कर रह जाती है। विक्रमोर्वशीयम् में रानी को राजा के अनुराग का ज्ञान उर्वशी द्वारा लिखे गये भोजपत्र के मिलने पर होता है। रानी औशीनरी क्रोधित होकर राजा का अपमान कर बैठती है। इसके पश्चात् पश्चाताप स्वरूप प्रियानुप्रसादन नामक व्रत करती है जिसका तात्पर्य यह है कि राजा भले ही किसी अभीष्ट रमणी के साथ विहार करें किन्तु उसे उपेक्षित न होने दें।

विक्रमोर्वशीयम् में तृतीय अंक में भरत-शाप की घटना विशेष रूप से उल्लिखित हुई है। उर्वशी में इसका वर्णन पाँचवे अंक में सुकन्या द्वारा हुआ है।

"उर्वशी" में तृतीय अंक इस ग्रंथ का प्राण है, इसमें कोई विशेष घटना नहीं बल्कि कवि की मान्यताएँ और धारणाएँ युगल प्रेमियों के वार्तालाप के रूप में व्यक्त हुई हैं।

विक्रमोर्वशीयम् में चतुर्थ अंक में राजा का उर्वशी से विछोह हो जाता है। राजा उर्वशी के विरह में उन्मत्त होकर भटकता फिरता है तथा अन्य प्राणियों से प्रेयसी के बारे में पूछता है और अन्त में संगमनीय मणि के द्वारा फिर उर्वशी को प्राप्त कर लेता है।

---

१. उर्वशी - अपि रोचते ते यं मे त्वाभरण भूषिती
नीलांशुक परिग्रहो भिसारिका वेशः

विक्रमोर्वशीयम्, तृतीयो अंकः पृष्ठ १०७
चौ० संस्कृत सीरीज, वाराणसी

दिनकर ने राजा के विरह का वर्णन उर्वशी के प्रथम मिलन के बाद ही किया है। उसके बाद नहीं। कालिदास ने आयु के राजा से मिलने का वर्णन भी बड़े नाटकीय ढंग से किया है कि एक गृध्र उस संगमनीय मणि को मांस का टुकड़ा समझकर झपटकर ले उड़ता है। उसे खोजने का प्रयत्न होता है तभी कञ्चुकि वह मणि तथा आयु का नामांकित बाण लेकर आता है। उसी समय एक तापसी उर्वशी के पुत्र के साथ प्रवेश करती है और उसे माता-पिता को सौंप देती है।

इसी समय उर्वशी दुःखी हो जाती है तो राजा उससे दुःखित होने का कारण पूछते हैं तो वह भरत-शाप की घटना सुनाती है और कहती है कि वियोग के भय से मैंने पुत्र को छिपा लिया था।

राजा वनगमन के लिए तैयार हो जाते हैं, तभी नारद मुनि का आगमन होता है। वे स्वयम् आयु का अभिषेक करते हैं और राजा तथा उर्वशी को अवियुक्त रहने का आशीर्वाद देते हैं। इस प्रकार अन्त में राजा का उर्वशी से वियोग होते-होते टल जाता है और नाटक का सुखपूर्ण अन्त होता है।

'उर्वशी' में इससे पर्याप्त भिन्नता है - सुकन्या आयु को युवा होने पर माता-पिता को सौंपने आती है। राजा पुत्र को प्राप्त कर अत्यन्त हर्षित होते हैं किन्तु तभी उर्वशी शापवश अन्तर्धान हो जाती है। राजा उसे पाने के लिये व्यग्र हो जाते हैं तब सुकन्या उन्हें भरत का शाप सुनाती है। अन्त में विरक्त होकर राजा आयु का राज्याभिषेक करते हैं और प्रव्रजित हो जाते हैं।

इसके पश्चात् दिनकर ने औशीनरी की व्यथा का वर्णन किया है। आयु भी माता-पिता दोनों से बिछुड़कर विलाप करने लगता है किन्तु औशीनरी उसे मातृवत् हृदय से लगाती है।[1]

---

१. पिता गये वन, किन्तु, अरे, माता तो यहीं खड़ी है,
बेटा अब भी तो अनाथ नरनाथ नहीं देशों का। उर्वशी-अंक ५, पृष्ठ १५५.

अन्तिम अंक में 'उर्वशी' में दिनकर ने नारियों की महानता, सहनशीलता, ममता, गरिमा का भी गान किया है।

दिनकर ने अपने काव्य में धरा को स्वर्ग से अधिक श्रेष्ठ ठहराने का प्रयास किया है तथा धरती पर सामान्य नर-नारी के सहज प्रेम को उदात्त रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु कालिदास ने सिर्फ पारंपरिक रूप से नाट्य रचना की है इसी कारण उसे सुखान्त भी करना पड़ा है।

पूर्ण विवेचन करने पर हमें ज्ञात होता है कि 'उर्वशी' और 'विक्रमोर्वशीयम्' में वर्णन की भिन्नता होते हुए भी कथा-सूत्र में काफी साम्य है फिर भी दोनों में अलग-अलग ढँग से कथा का पल्लवन हुआ है। वास्तव में दिनकर की 'उर्वशी' अपने आप में एक अनूठी रचना है।

अध्याय २

प्रतीक-योजना

दिनकरजी उर्वशी की भूमिका में लिखते हैं -

" उर्वशी शब्द का कोशगत् अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना। और पुरुरवा शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जो नाना प्रकार का रव करे, नाना ध्वनियों से आक्रान्त हो।"

उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं की प्रतीक है, पुरुरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य।"[१]

उर्वशी के रूप में कवि ने सनातन नारी और पुरुरवा के रूप में सनातन नर की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उर्वशी स्वर्गलोक की अप्सरा है। स्वर्ग में, जहां अमृत प्रकार के सुख उपलब्ध हैं, वह तृप्तित है। स्वर्ग में मात्र गन्धों का ही आकर्षण है। अतः उर्वशी को कामनाओं की ज्वाला पृथ्वी पर खींच लाती है। उसे देवताओं का उन्मुक्त विलास, अमृतवत प्रेम सन्तुष्ट नहीं कर पाता और वह धरती के मनुष्य के पास अपनी आकांक्षाओं की तृप्ति की आशा लिए आती है। इसीलिए उर्वशी अभिलाषा, वासना, कामना से पूर्ण सनातन नारी की प्रतीक है जिसमें चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाएँ विद्यमान हैं। पुरुरवा नाना प्रकार की ध्वनियों से आक्रान्त एक सनातन पुरुष है। वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से प्राप्त सुखों से उद्वेलित मनुष्य है।

---

१. उर्वशी, भूमिका, पृष्ठ (ख).

"पुरुरवा द्वन्द्व में है क्योंकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी।"[१]

द्वन्द्व मनुष्य का सामान्य स्वभाव है। वह सुख की कामना भी करता है और सुख से आगे कुछ और प्राप्त करना चाहता है। "कामायनी" में भी प्रसाद ने मनु को द्वन्द्वपूर्ण मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया है जो सुख की खोज में भटकता है। जब तक द्वन्द्व भाव नहीं मिटते मनु को शान्ति नहीं मिलती। दिनकर उर्वशी की भूमिका में लिखते हैं -

"कहते हैं, निरुक्त के अनुसार आयु का अर्थ भी मनुष्य होता है। इस दृष्टि से मनु और इड़ा तथा पुरुरवा और उर्वशी, ये दोनों कथाएँ एक ही विषय को व्यंजित करती हैं। सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरुरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है।"[२]

नर-नारी सामान्यतः एक दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण है। मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्मा ने स्वयम् को दो भागों में विभक्त किया। एक अर्धांश से पुरुष बना और दूसरे से नारी। पुनः उस नारी से मैथुन-धर्म से एक विराट् पुरुष का निर्माण किया।[३] इस प्रकार नर-नारी की सृष्टि हुई। देवाधिदेव शिव भी बिना शक्ति के शव के समान हैं। शिव और शक्ति शब्द और अर्थ के समान जुड़े हुए हैं।

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये"[४]

---

१. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (ख)

२. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (ख)

३. मनुस्मृति - अ० १, श्लोक ३२ (उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ - विमलकुमार जैन, पृष्ठ - १६५.)

४. रघुवंशम् (कालिदास)

वैष्णव आराधना में राधा-कृष्ण को प्रकृति-पुरुष रूप माना गया है। आदि सनातन पुरुष भी नारी के बिना अधूरा है। संसार का सारा वैभव भी नारी के अभाव में फीका है। पुरुष की आकांक्षाओं की पूर्ति नारी ही कर सकती है। इसी प्रकार नारी भी नर के बिना अपूर्ण है उसके अभाव की पूर्ति नर ही कर सकता है।

नर-नारी के आत्मा के धरातल पर मिलने के लिए शारीरिक धरातल पर मिलना भी आवश्यक है। पारस्परिक संस्पर्श की विद्युत तरंग उन्हें एक ऐसे लोक में पहुंचा देती है जहां वे एक अनिवर्चनीय सुख का अनुभव करते हैं और उनमें परस्पर साहचर्य की कामना और बलवती होती जाती है। परिरम्भ-पाश में बंधे नर-नारी का पार्थक्य भाव मिट सा जाता है और वे एक ऐसे स्वप्न-लोक में विहार करने लगते हैं जहां द्वैत को कोई स्थान नहीं क्योंकि द्वैत तो मन की कृति है। अब मन शरीर से परे अतीन्द्रिय लोक में पहुंच जाता है तो अवचेतन के स्तर खुल जाते हैं। यह भी एक प्रकार की समाधि है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिये मनुष्य दैहिक (जैव) धरातल का अतिक्रमण कर ऐसे गुह्य लोक में प्रवेश कर जाता है -

> देह प्रेम की जन्म भूमि है, पर उसके विचरण की
> सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक।
> यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में
> जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है।"[१]

प्राचीन समय से भारत में ज्ञानियों की यह धारणा है कि केवल योग ही मनुष्य को देशकाल की परिधि से ऊपर ले जाता है किन्तु दिनकरजी उस योग की साधना का एक सोपान नर-नारी का अतीन्द्रिय प्रेम मानते हैं -

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६२.

'कवि, प्रेमी एक ही तत्त्व है, तन की सुन्दरता से
दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं
उस अनन्त में जो अमूर्त धागों से बाँध रहा है
सभी दृश्य सुषमाओं को अविगत, अदृश्य सत्ता से'[1]

काम-वासना शरीर का स्वाभाविक धर्म है। फ्रायड ने काम को मूल जीवनेच्छा के रूप में स्वीकार किया है। प्रसाद ने भी कामायनी में काम को भूख के समान शरीर की सहज आवश्यकता माना है -

नव हो जागी अनादि वासना,
मधुर प्राकृतिक भूख समान
चिर परिचित-सा चाह रहा था
द्वन्द्व, सुखद करके अनुमान।[2]

वैदिक साहित्य में काम को बहुत महत्त्व दिया गया है। ऐतरेय उपनिषद् में उसे ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली शक्ति के रूप में माना गया है। यही काम आदि समय से नर-नारी में समान रूप से विद्यमान है और उनमें परस्पर आकर्षण पैदा करता है।

उर्वशी और पुरूरवा का जब दैहिक मिलन होता है तो वे दैहिक सीमा का अतिक्रमण करके मनोलोक में पहुंच जाते हैं। उर्वशी अपना परिचय एक चिरन्तन नारी के रूप में देती है, वह कहती है कि मैं ही प्रत्येक पुरुष के मन की मधुर ज्वाला हूं।[3]

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ - ६२.
२. 'कामायनी' आशासर्ग, पृष्ठ ४३.
३. जन-जन के मन की मधुर वह्नि, प्रत्येक हृदय की उजियाली
नारी की मैं कल्पना चरम, नर के मन में बसने वाली।
मैं देश काल से परे चिरन्तन नारी हूं
मैं आत्म तन्त्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा
रूपसी अमर मैं चिर युवती सुकुमारी हूं.

पुरुरवा भी कहते हैं कि मैं भी सदा से सनातन पुरुष के रूप में तुम्हें अपनी बाहों के बालोड़न में बाँधता आया हूं। सदा मैंने ही पुरुष रूप में तुम्हारे अधरों की सुधा का पान किया है -

जहां जहां तुम खिलीं, स्यात् मैं ही मलयानिल बनकर,
तुम्हें घेरता आया हूं अपनी आकुल बाहों से
जिसके भी सामने किया तुमने कुंचित अधरों को,
लगता है, मैं ही उदेव वह चुम्बन-रसिक पुरुष था।[१]

मानव जीवन की उर्ध्व साकार से उठकर ऊपर निराकार तक जाने की आकुलता का प्रतीक पुरुरवा है। मनुष्य में द्वन्द्व विद्यमान है।[२]

'पुरूरवा के भीतर देवत्व की तृष्णा है। इसीलिए, मर्त्य लोक के नाना सुखों में वह व्याकुल और विषण्ण है।'[३] -

किन्तु, रक्त के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को
घूँट या दो घूँट पीते ही
न जाने, किस अतल से नाद यह आता
अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।'[४]

यह चिन्तन, यह मनन उनके बाहुपाश को ढीला कर देता है उनका मन फिर किसी रहस्यमय सत्य की खोज में भटकने लगता है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य का मन उसे कभी इधर लेजाता है कभी उधर। 'पुरुरवा की वेदना समग्र मानव-जाति की वेदना से ध्वनित है'। दिनकरजी लिखते हैं -

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ १०१,
२. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (ग)
३. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (ङ)
४. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ५६

"किन्तु मानवता की यह वेदना उत्पन्न कहाँ से होती है ? मानव-मन का यह दुःसाध्य संघर्ष आता है कहाँ से ? १

आत्मा का धरातल मनुष्य को ऊपर खींचता है और जैव धरातल का आकर्षण नीचे की ओर है। मनुष्य अब पशुओं से अलग होने लगा, यह वेदना तभी से उसके साथ हो गई। मानवता ही मनुष्य की वेदना का उत्तम नाम है।"२

मनुष्य स्वयम् को देवत्व से सम्पन्न देखना चाहता है। उसकी कल्पना के जो देवता हैं उनके समान वह अपने आपको बना नहीं पाता फिर भी प्रयत्न करना, संघर्ष करना मनुष्य का स्वभाव है। वह देवत्व की ऊँची-ऊँची कल्पनाएँ लेकर चलता है किन्तु धरती की ठोस वास्तविकताएँ उसकी महत्वाकांक्षाओं को चकनाचूर कर देती है। वह कभी प्रेम की ओर मुड़ता है, कभी सन्यास की ओर।

चाहिये देवत्व
पर इस आग को धर दूं कहाँ पर ?
कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूं कहाँ पर ?३

"सन्यास प्रेम को वर्जित नहीं कर सकता, न प्रेम सन्यास को क्योंकि प्रेम प्रकृति और परमेश्वर सन्यास है और मनुष्य को सिखलाया गया है कि इक ही व्यक्ति परमेश्वर और प्रकृति, दोनों को प्राप्त नहीं कर सकता।"४

उर्वशी देवी है। देवियाँ द्वन्द्व से सर्वथा मुक्त होती हैं। वह भूतल पर आई है निष्काम भाव से संसार का आनन्दोपभोग करने के लिये। वह अनवरत रूप से आनन्द की धारा में बहना चाहती है किन्तु उसे पुरुरवा

---

१. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (ङ)
२. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (च)
३. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ५४,
४. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (च)

के मन का द्वन्द्व विक्षिप्त कर देता है। वह यही सोचती है कि जब प्रकृति को परमेश्वर ने बनाया है तब प्रकृति की सहज धारा में बहते जाना क्या परमेश्वर से दूर जाना है? क्या ईश्वर का प्रकृति से विरोध है? या ईश्वर उसका प्रतियोगी है? क्या प्रकृति के सहज रास्ते चल कर ईश्वर की आराधना नहीं हो सकती -

"किसने कहा तुम्हें, परमेश्वर और प्रकृति, ये दोनों
साथ नहीं रहते; जिसको भी ईश्वर तक जाना है
उसे तोड़ लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से;

मोह मात्र ही नहीं, सभी ऐसे विचार बन्धन हैं
जो सिखलाते हैं मनुष्य को, प्रकृति और परमेश्वर
दो हैं; जो भी प्रकृत हुआ, वह दूर हुआ ईश्वर से
ईश्वर का जो हुआ, उसे फिर प्रकृति नहीं पायेगी।"[1]

ईश्वर की बनायी हुई प्रकृति माया नहीं है जो मानव को अपने स्रष्टा से दूर ले जाय। माया तो वह भ्रम-बुद्धि है जो मनुष्य को द्वैत के भटकाव में फँसा देती है। मनुष्य को चाहिये इस भ्रम के घेरे से बाहर निकलकर निष्काम रूप से प्रकृति की सहजता में बहता रहे और उसे प्रकृति ने जो शक्ति दी है उसका सहज उपभोग करता रहे। इसी सहजता में ही कभी अनायास ही उसे परमेश्वर की भी प्राप्ति हो सकेगी जिस प्रकार कि अनायास ही किसी डाली से टहनियाँ और पत्ते फूट पड़ते हैं - जिस प्रकार प्रकट होने के पहले उन टहनियों और पत्तों की स्थिति तो डाली में रहती है किन्तु वे अदृश्य होती हैं उसी प्रकार परमेश्वर भी प्रकृति के कण-कण में वर्तमान है। प्रकृति से भागकर फिर कोई उसे कहाँ प्राप्त करे? मनुष्य स्वयम् भी तो परमेश्वर की प्रकृति है फिर अपने आप से भागकर कहाँ जाय? परमेश्वर कब भी प्रकृति से बाहर

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ७७-७८.

क्यों सोचे ? -

"वह तो स्वयम् रहा वह अपनी ही लीला धारा में
कर्दम कहीं, कहीं पंकज बन, कहीं स्वच्छ जल बन कर।"[1]

पुरूरवा कहते हैं वास्तव में नर-नारी दोनों ही उसी के रूप हैं और उसी मूल सत्ता के प्रतिमान हैं -

न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो,
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के,
देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है। [2]

इस प्रकार अपनी सत्ता के मूल स्रोत से मिलने की वांछा स्वाभाविक है किन्तु नारी पुरुष को ही ईश्वर रूप में देखती है। जब ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है और नर भी उसकी ही रचना है फिर नारी उसे नर से भिन्न स्थान में क्यों सोचे ? अत वह तो नर के प्रति धर्म-रूप काम की साधना करके आत्मा को सर्वोच्च शिखर पर ले जाने का प्रयास करती है।

उर्वशी निष्काम प्रेम की मूर्ति है। उसका चित्त स्थिर है जहां संयम को कोई स्थान नहीं। चित्त की स्थिरता के दर्शन हमें महर्षि च्यवन और सुकन्या के प्रेम में भी होते हैं। महर्षि का चित्त स्थिर, आत्मा पवित्र और चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल है। वे कामों से सर्वथा विहीन हैं। वे एक साथ सन्यासी भी हैं और प्रेमी भी। उनके विषय में कहे गये वचन द्रष्टव्य हैं -

यही गर्व मुझको भी
हो आता है अनायास उन तेजवन्त पुरुषों पर
बाधक नहीं तपोव्रत जिनके व्यग्र-उदग्र प्रणय का
न तो प्रेम ही विघ्न डालता जिनके तपश्चरण में

---

1. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ८२.
2. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६३.

प्रणय-पाश में बंधे हुए भी जो निमग्न मानस से
उसी महासुख की चोटी पर चढ़े हुए रहते हैं
जहां योग योगी को कवि की कविता ले जाती है.[१]

सुकन्या आदर्श, शान्त हृदय, पावन प्रणयपूर्ण एकचारिणी नारी की प्रतीक है। उसे विविध स्वादों की कोई आकाँक्षा नहीं है -

गृहिणी के तो परम देव आराध्य एक होते हैं
जिससे मिलता भोग, योग भी वही हमें देता है।[२]

उर्वशी और सुकन्या के अतिरिक्त एक नारी और है वह है औशीनरी जो राजा पुरूरवा की परिणीता होते हुए भी प्रणय वंचिता है कुलवधुओं के समान लज्जा उसका आभूषण है अत: वह व्रीड़ा का आवरण फाड़कर प्रिय को मुग्ध नहीं कर पाती और अंत तक उसे उपेक्षित ही रहना पड़ता है। उसके मन में ईर्ष्या है किन्तु उसे फिर भी धैर्य धारण करना पड़ता है और वह सदा प्रिय की मंगल कामना ही करती है। उसका नारीत्व उर्वशी के पुत्र के रूप में पूर्णता को प्राप्त होता है, वह आयु को ही कलेजे से लगाकर मन के वेग को शान्त कर लेती है। औशीनरी के रूप में कवि ने नारी की गरिमा और व्यथा का ही गान किया है फिर भी सामान्य नारीत्व की प्रतीक उर्वशी ही है। यद्यपि माता बनने के पश्चात् उर्वशी को भी व्यथा झेलनी पड़ती है फिर भी वह बस अपने प्रिय के आलिंगन-पाश में बंधकर सब कुछ विस्मृत कर देती है। उसके सामने प्रिय और उसका सान्निध्य-जनित आनन्द यही सब कुछ है। यही भावना है जो सामान्यत: नारी को नर के पास खींच ले जाती है। पुरुषों में भी सामान्य नर के प्रतीक पुरूरवा ही हैं। वैसे महर्षि च्यवन और आयु का महत्व भी कम नहीं है। च्यवन तो

---

१. उर्वशी - अंक ४, पृष्ठ १०६.
२. उर्वशी - अंक ४, पृष्ठ १०८.

नर से देवता बने हुए मनुष्य के प्रतीक हैं जहां ज्वाला तो है किन्तु शीतलता भी है; कामनाएँ भी हैं किन्तु उन पर महर्षियों का ही अधिकार है; बल्कि यों कहिये कि वे योग और प्रेम की समन्वित मूर्ति हैं। आयु के रूप में कर्तव्य परता का निदर्शन हुआ है। उसे प्रारम्भ से ही कर्तव्य के पथ में भावनाओं की बलि चढ़ानी पड़ी है फिर भी नरत्व की सामान्य वृत्तियाँ पुरुरवा में ही उद्घाटित हुई हैं अतः सनातन नर का प्रतीक पुरुरवा है।

अध्याय

३

नारी भावना

उर्वशी काव्य में नारी का चित्रण अनेक रूपों में हुआ है। नारी-भावना की परिव्याप्ति सम्पूर्ण काव्य में है। दिनकर ने उर्वशी में कुछ नारी चरित्र के अतिरिक्त ऐसी अवधारणा प्रस्तुत की है जो कि जन-जन के मन में समायी हुई है। यह भावना नर-नारी दोनों में कमोबेश रूप से बैठी हुई है। कवीन्द्र रवीन्द्र का कथन है कि मेरे हृदय में एक विरहिणी नारी बैठी है जो विरह के गीत सुनाया करती है। यही नारी मीरा के हृदय में विरहिणी प्रेमिका होकर तथा सूर के हृदय में राधा होकर रोयी थी।

नारी-भावना सूक्ष्म रूप से संसार में सर्वत्र व्याप्त है। नारी मानव-हृदय की, इन्द्रियों की कामना बनकर प्रत्येक पुरुष के उर में बसी हुई है। पुरुष सदा ही इन कामनाओं के आगे पराजित होता आया है। कामिनी का आकर्षण उसकी सम्पूर्ण वृत्तियों को अपनी ओर उन्मुख कर लेता है। और उसका पौरुष एक सुकोमल पुष्प से भी हार जाता है। फिर उसका मन जब अन्तर की गहराइयों को टटोलता है तो वह अपने आपको निस्सहाय पाता है। प्रेयसी, पत्नी, माता इन रूपों में नारी उसके लिए एक आकर्षण का केन्द्र बनी रहती है वह अन्त तक यह नहीं जान पाता कि इनमें से नारी का कौन सा रूप सर्वश्रेष्ठ है या कि नारी को इन सभी गुणों से पूर्ण समग्र रूप में देखा जाय। किन्तु समस्या फिर यह उठती है कि समग्र रूप में नारी वह कहाँ खोजे, क्योंकि कभी उसे प्रेयसी का रूप याद आता है, कभी कर्तव्य पथ पर जूझती नारी का मन्दिर या कभी याद आता है ममतामयी माँ का वक्ष।

दिनकर जी ने इसी त्रिकोण में नारी का चित्र तीन पात्रों में प्रस्तुत किया है। एक है उर्वशी जो कि प्रेयसी है, दूसरी है रानी औशीनरी जो पत्नी है, किन्तु प्रणयवंचिता, तीसरी है सुकन्या जो पत्नी व प्रेयसी का समन्वित रूप

है। नारी के माता रूप का चित्रण अलग किसी पात्र में नहीं हुआ किन्तु उर्वशी, सुकन्या, औशीनरी तीनों में मातृत्व का सागर लहराता है जो अवसर पाकर बाहर फूट पड़ता है।

धरती पर जो काम-सुख उपलब्ध है वह स्वर्ग में नहीं है। देवता मात्र गन्धों के प्रेमी हैं। स्पर्श का सुख उन्हें उपलब्ध नहीं है। धरती का मानव अपने क्षणभंगुर जीवन में भी प्रेम की चाहकता का वह सुख भोगता है जिसके लिए अप्सराएं भी धरती पर आने को ललकती हैं। उर्वशी भी ऐसी ही अप्सरा है जो राजा पुरुरवा पर आसक्त होकर नारीत्व ग्रहण कर धरती पर आती है। वह मात्र प्रेम की समाधि में डूब कर आनन्दलीन रहना चाहती है और उसी में अपना नारीत्व सार्थक मानती है। आत्मा के स्तर पर पहुंचने के लिए तन से मिलन भी आवश्यक है। तन तो मन के साक्षात्कार का साधन है। आलिंगन-पाश में बंधे युगल प्रेमियों को शरीर का ज्ञान नहीं रहता और वे ऐसे लोक में पहुंच जाते हैं जहां नर-नारी का भेद भी नहीं रहता। दिनकर जी लिखते हैं -

"नारी के भीतर एक और नारी है, जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का सन्धान पुरुष तब पाता है, जब दैहिक चेतना से परे वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुंचता है।

और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग-संज्ञा के पार पहुंचना चाहती है।"[१]

उर्वशी देवलोक की अप्सरा है उसे कोई द्वन्द्व नहीं है। वह निर्बाध रूप से पृथ्वी पर प्रेम रस का पान करने आई है किन्तु पुरुरवा का चित्त द्वन्द्व में है। वह ज्यों ही मदोन्मत्त होकर रूप रस का पान करना चाहता है कि हृदय से आवाज आती है कि मूर्ख अभी नहीं समझा। रूप तो केवल दृष्टि से पान करने की वस्तु है। उसे रक्त का भोजन बनाना हेय है। बस पुरुरवा का मन

---

१. उर्वशी - मुखपृष्ठ.

दो छोरों के बीच झूलने लगता है। कभी उसे रूप सौन्दर्य का अपार वैभव अपनी ओर खींचता है, कभी वह पंक में कमलवत् निर्लिप्त रहना चाहता है। प्रेम और सन्यास दोनों ही छोर उसे अपनी-अपनी ओर खींचते हैं, उसकी इस क्रिया को उर्वशी जान जाती है। वह प्रेम को भी योग के समकक्ष ठहराने का प्रयत्न करती है। वह कहती है कि परमेश्वर और प्रकृति में भेद नहीं है क्योंकि परमेश्वर ने ही प्रकृति को बनाया है। हम सब उसी की बनायी हुई प्रकृति के प्रसन्न अवयव हैं। फिर हम अपने आप से कैसे भाग सकते हैं। हमें प्रकृति की सहज धारा में बह कर ही उसकी आराधना करनी चाहिये। यह तन भी ईश्वर का बनाया हुआ है फिर तन की आसक्ति से भागकर केवल मन से कैसे ईश्वर की आराधना हो सकती है। उस परमेश्वर को योग से प्राप्त किया जा सकता है और प्रेम भी एक प्रकार का योग है। उर्वशी राजा की प्रेयसी बनकर भूतल पर आयी है। वह प्रेम की धारा में सतत् बहना चाहती है। विकल्पों की रुकावट उसे असह्य है। वह अब अपने प्रिय से यही कहती है -

तू मनुज नहीं, देवता, कांति से मुझे मंत्र मोहित कर ले,
फिर मनुज-रूप धर उठा गाढ़ अपने आलिंगन में भर ले।
मैं दो विटपों के बीच मग्न नन्हीं लतिका-सी सो जाऊँ,
छोटी तरंग-सी टूट उरस्थल के महीन्द्र पर सो जाऊँ।[१]

उर्वशी को अभिसार करते हुए अनेक रात्रि-दिवस बीत जाते हैं। उसे ऐसा लगता है कि हम परिरम्भ-पाश में बंधे हुए हम पुष्पों की कोमल हरियाली पर सवार होकर आकाश की ओर न जाने कहां उड़े जाते हैं। धीरे-धीरे दोनों, मानों देह की सीमा पीछे छोड़कर मन के लोक में प्रवेश कर जाते हैं और निखिल सृष्टि उन्हें अपनी मादकता में झूमती नजर आती है। प्रेम की पूर्ण समाधि में शरीर का भी बोध नहीं रहता।

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ५७.

नारी सदा से ही नैसर्गिक रूप से पुरुष के लिए आकर्षण का विषय है । यही आकर्षण पुरुरवा को उर्वशी में मिलता है । उनके हृदय से यही ध्वनि आती है -

यह तुम्हारी कल्पना है, प्यार कर लो ।
रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर ।
जो गगन चारी । यहाँ मधुमास छाया है ।
भूमि पर उतरो,
कमल, कर्पूर, कुंकुम से, कुटज से
इस अतुल सौन्दर्य का शृंगार कर लो । [१]

पुरुरवा अपनी प्रेयसी के सामने हार जाते हैं । वे कहते हैं कि मैं उद्दाम सिंधु के समान अपार बलशाली हूँ । मेरी शक्ति की जयजयकार सर्वत्र गूँजती है । मेरे सम्मुख बड़े-बड़े वनराज पर्वत भी भय से डोलने लगते हैं । मैं अपने समय का सूर्य हूँ । मेरा रथ बादलों के शीश पर चलने में भी सक्षम है, किन्तु -

न जाने बात क्या है ।
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बाँह मिलाकर खेल सकता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता ।

बिद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से,
जीत लेती रूपसी नारी उसे मुस्कान से । [२]

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ५७.
२. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ५३-५४.

पुरुरवा के जीवन में नारी के प्रेयसी रूप का बहुत महत्व है। सब तरफ से हारा थका हुआ श्रान्त पुरुरवा जब प्रिया की गोद में आ गिरता है तब वह अपनी सारी वेदना भूल जाता है।

'उर्वशी' में उर्वशी का प्रेयसी रूप सफलता के साथ चित्रित हुआ है। दिनकर ने अप्सराओं के वार्तालाप में उनके रूप-गुण आदि पर भी बहुत कुछ लिखा है। वे विष्णु की आत्मजा होने के कारण विष्णु के समान ही उज्ज्वल हैं। वे उन्मुक्त प्रेम की प्रतिमाएं हैं। वे अपने सौन्दर्य व हाव-भावों से नर-देवों का मनोरंजन करती हैं। वे कभी किसी एक पुरुष से बंधकर रहना नहीं जानती। प्रेम, जो नारी की निधि है, उनकी तो क्रीड़ा ही है। वे रचना की वेदना तो जगाती हैं किन्तु स्वयं कभी रचना नहीं करतीं। अप्सराएं मातृत्व का भार वहन करना नहीं चाहतीं क्योंकि मातृत्व ग्रहण करने पर नारी का सौन्दर्य ढलने लगता है। कुछ अप्सराएं ऐसी हैं जिन्होंने मातृत्व तो ग्रहण किया किन्तु फिर भी वे सन्तति का पालन नहीं करतीं। उर्वशी, मेनका आदि अप्सराओं में नारीत्व अधिक सजग है। वे अपनी सन्तान का पालन तो नहीं करतीं फिर भी उनका हृदय वात्सल्य से परिपूर्ण है।

प्रेयसी के पश्चात् नारी का दूसरा महत्वपूर्ण रूप है पत्नी का, जो कि औशीनरी के रूप में प्रगट हुआ है। औशीनरी कर्तव्यनिष्ठ पत्नी है। कुलवधुओं की भांति लज्जा उसका आभूषण है। वह महाराज की सम्पूर्ण सुख-सुविधा का ध्यान रखती है। महाराज को प्रसन्न रखने के लिए चन्द्र की आराधना करती है किन्तु पुरुरवा को जिस रूप की पिपासा है वही वह अपने पति को नहीं दे पाती। गृहिणी नारी प्रेमासक्त होकर भी वह तीव्रता नहीं लापाती जो नर की दाहकता को शांत कर सके। जब धीरे-धीरे उसका प्रेम परिपक्वता की ओर बढ़ता है और वह निःसंकोच होकर अपने प्यार को प्रकट करना चाहती है तब तक पुरुरवा के प्रेम में शिथिलता आने लगती है। वह नारी के जोये प्रेम को जगाकर स्वयं विमुख हो जाता है तब नारी के पास सिवाय अश्रु बहाने के कुछ नहीं रह जाता। वह यही कहती रह जाती है -

गृहिणी जाती हार दाँव सम्पूर्ण समर्पण करके,
जयिनी रहती बनी अप्सरा ललक पुरुष में भरके,
पर, क्या जाने ललक जगाना नर में गृहिणी नारी ?
जीत गयी अप्सरा, यहीं मैं रानी बन कर हारी ।[1]

पुरुरवा उससे जैसे-जैसे दूर होते हैं उसके प्रेम में तीव्रता आती है किन्तु पुरुरवा को वह आकर्षित नहीं कर पाती क्योंकि पुरुष का स्वभाव है कि जो सहजप्राप्य है उसके प्रति उसके मन में ललक नहीं उठती। नित नया स्वाद नित नयी आनन्द-कामना पुरुष को खींचती है और उस ओर ले जाती है जहाँ रूप का सागर स्वप्न के समान बार-बार सामने आकर छिप जाता है। वह उसी प्रमदा के वशीभूत होकर रहता है जो उसे अतृप्ति के रस में निमज्जित रखती है।

औशीनरी पातिव्रता स्त्री है। उसके लिए पति के सिवाय और कोई आधार नहीं है। वह पहले ही तन-मन-धन से स्वामी के चरणों में समर्पित हो चुकी है किन्तु उसे वही सुख उपलब्ध नहीं है जिससे नारी के अन्तर का मान-पद्म खिलता है, जिसे प्राप्त कर प्रौढ़ा नारी भी मानो युवती बन जाती है। उसका स्वत्व अप्सरा द्वारा हरण हो चुका है किन्तु उसके पास कोई उपाय भी नहीं है। वास्तव में उसकी अवस्था कितनी करुण है -

दुख-दर्द जतलाओ नहीं,
मन की व्यथा गाओ नहीं,
नारी ! उठे जो हूक मन में, जीभ पर लाओ नहीं।[2]

इतना होने पर भी वह अपने प्रार्थना-भवन में प्रिय की मंगल कामना ही करती है। यह है नारीत्व की गरिमा। दिनकर ने लिखा है -

---

१. उर्वशी - अंक २, पृष्ठ ३६.

२. उर्वशी - अंक २, पृष्ठ ४०.

सब स्त्रिया-जाति उर्वशी नहीं।
वे भी हैं जिनके बड़े हृदय -
में मधु से मिला हुआ है पय,
जिनके प्राणों के महाव्योम,-
में संग उदित है सूर्य-सोम।[१]

यही है नारी की महानता। ऐसी सती नारी के आगे अप्सरा को भी हारना पड़ा है। वास्तव में ऐसा लगता है कि कवि ने सौन्दर्य-प्रेम का चित्रण अब उर्वशी के माध्यम से अवश्य किया है किन्तु उसकी श्रद्धा सती-गृहिणी नारी के प्रति ही अधिक है। यही कारण है कि उसकी कविता पुरुरवा के उन्माद गृहरा के साथ समाप्त नहीं होती। दिनकर का कवि नारी की व्यथा के साथ उसकी भव्यता का भी मान करता है।

"इसीलिए जिन दिव्य गुणों को मानवता कहते हैं,
उसके भी अत्यधिक निकट नर नहीं, मात्र नारी है।[२]

नारी की भृकुटि धूप का आतप नहीं चन्द्रिका की शीतलता है तभी तो नारी तक आते-आते इतिहास भी काव्य बन जाता है। नारी क्रिया नहीं क्रिया की प्रेरणा है। प्रीति का, करुणा का उद्गम है। उसका स्मरण कर कृष्ण बड़े से बड़े संकट में भी विचलित नहीं होता।

नारी के प्रेयसी और पत्नी का समन्वित रूप हमें सुकन्या में देखने को मिलता है; जो अपने दक्षिणामर्ता के साथ सम्पूर्ण सुख का उपभोग करती है। वह पति परायणा गृहिणी भी है और अपने प्रियतम की अनन्य प्रिया भी। महर्षि च्यवन की नारी-विषयक धारणा बहुत ही महान है। वे

---

१. मुनि तिलक 'उर्वशी काव्य की समाप्ति' - पृष्ठ ५६.
२. उर्वशी - अंक ४, पृष्ठ १६४.

सुकन्या को अपने तप की साक्षात् सिद्धि मान कर ग्रहण करते हैं। उनकी नारियों पर अपार श्रद्धा है। वे नारी का जीवन बड़ा सुयशपूर्ण मानते हैं। महर्षि का कथन है -

> कितनी सह यातना पालती स्त्रिया भविष्य जगत् का ?
> कह सकता है कौन पूर्ण महिमा इस तपश्चरण की ?[१]

च्यवन कहते हैं कि प्रजा-सृष्टि में पुरुष का भाग तो बहुत बड़ा है। यह नारी ही है जो सारा यज्ञ पूर्ण करती है।

> नारी ही वह महासेतु जिस पर अवश्य से चलकर
> नये मनुज, नव प्राण इस जग में आते रहते हैं।
> नारी ही वह कोष्ठ, देव, दानव, मर्त्य से छिपकर,
> महाशून्य, चुपचाप, जहाँ आकार ग्रहण करता है।[२]

नारी की पूर्णता मातृत्व में है। उर्वशी भी पुत्र को जन्म देकर गर्व से भर उठती है। मेनका भी यही कहती है कि माँ बनने पर नारी की गरिमा कुछ और ही होती है। माना कि माता बनकर नारी देह की गठन खो देती है किन्तु मुझे तो वही नारी रूपमती लगती है जो गोदी में लेकर शिशु को स्तनपान करा रही हो अथवा खड़ी-खड़ी उसका पल्ला फुला रही हो।[३]

उर्वशी, सुकन्या, औशीनरी तीनों माँ की ममता से ओतप्रोत हैं। एक शिशु को जन्म देकर शापवश पालन करने में असमर्थ है तो दूसरी उसे अनन्य वात्सल्य के साथ पाल-पोसकर बड़ा करती है और तीसरी यूथा पुत्र

---

१. उर्वशी अंक ५, पृष्ठ ११६.
२. उर्वशी अंक ४, पृष्ठ ११७.
३. उर्वशी अंक १, पृष्ठ १६.

को हृदय से लगाकर अपनी सारी ममता उड़ेल देती है।

इस प्रकार कवि ने नारी के तीनों रूपों का बहुत सुन्दर चित्रण किया है और जीवन में उसकी महत्ता प्रतिपादित की है। इसी कारण अन्त में सुकन्या औशीनरी से कहती है कि नारी जहां बन्धनों के कारण अबला है वहां अपने आकर्षण से सबल भी है। नारी इस जगत में जीवन के रास्ते पर बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है -

और त्रिया जो अबला, मात्र आँसू, केवल करुणा है,
वही बैठ सम्पूर्ण सृष्टि के मूल पृष्ठ निस्तल में,
छिगुनी पर सारे समुद्र को ऊँचा किये हुए है ।[1]

१. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १६१.

अध्याय

४

प्रेम का स्वरूप

उर्वशी में प्रेम तत्व से हमारा तात्पर्य कान्ता-विषयक रति से है। 'रति' शृंगार रस का स्थायी भाव है। 'प्रकृतिवाद में रति का अर्थ किया गया है - स्मर-प्रिया, काम-पत्नी, अनुरा, आसक्ति, क्रीड़ा, रमण, सन्तोष। इस तालिका में 'रति' शब्द से व्यंजित तीन प्रसिद्ध अर्थों की विज्ञप्ति होती है; प्रथम - रति कामदेव की पत्नी का नाम है; द्वितीय - रति अनुराग अथवा प्रेम का सूचक है; तृतीय - रति क्रीड़ा अथवा रमण अर्थात् स्त्री-पुरुष के एक दूसरे के प्रति नैसर्गिक आकर्षण, एक विशिष्ट प्रकार की प्रमोदपूर्ण अभिव्यंजना का वाचक है।'[१]

किसी प्रिय वस्तु के प्रति मन का प्रेमपूर्वक उन्मुख होना ही रति है। विश्वनाथ ने रति का लक्षण इस प्रकार किया है -

'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्'[२]

काम और रति रमणेच्छा के सूचक बन गये हैं किन्तु साहित्य शास्त्रियों ने इसका बहुत व्यापक अर्थ ग्रहण किया है। रति का अर्थ है अनुराग अथवा प्रेम। 'वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक स्पर्श द्वारा जनित अभिमानिक सुखों के बोध को ही काम का प्रधान रूप निश्चित

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृष्ठ ६६८, संस्करण सं० २०२०.
२. साहित्य दर्पण, ३, १७६.

किया है। अपने व्यापक रूप में 'रति मनुष्य-जीवन के सम्पूर्ण प्रेय और श्रेय की नियामिका बन जाती है।'[1] प्रेम चाहे लौकिक हो अथवा अलौकिक, रति भाव उसमें मुख्य है। अलौकिक के प्रति प्रेम को भक्ति नाम दिया गया है। भक्ति में भी श्रद्धा-प्रेम में प्राधान्य प्रेम का ही है। आचार्य शुक्ल ने श्रद्धा और प्रेम के योग को भक्ति कहा है। भक्ति के भी अनेक रूपों में भेद श्रद्धा की मात्रा का है, जैसे दास्य भक्ति में श्रद्धा की मर्यादा अधिक है तो माधुर्य भाव की भक्ति में कुछ कम। प्रेम की मात्रा दोनों में समान ही है।

तात्पर्य यह है कि मानव जीवन में प्रेम ही एक नियामक शक्ति है। मनुष्य क्या पशु तक का सहज स्वभाव है प्रेम करना। बड़े से बड़े हिंस्र पशु भी प्रेम के वश में होते देखे गये हैं। आत्मा स्वयम् प्रेम स्वरूपा है। प्रेम के अभाव में वह मृत के समान है। प्रेम का आकर्षण कामेच्छा को जन्म देता है। इसका कारण भी बड़ा ही स्वाभाविक है। आत्मा की स्थिति शरीर से है अतः मानसिक प्रेम के लिए शारीरिक मिलन भी आवश्यक हो जाता है। केवल आत्मा का प्रेम अधूरा है और यदि वह प्रेम विषम होता है तो दूसरे पक्ष से कोई प्रतिक्रिया न होने पर समाप्त हो सकता है। अगर वह सम अर्थात् आश्रय-आलम्बन दोनों में समान है तो वह दोनों प्रेमियों को निकट लाये बिना रह ही नहीं सकता। शरीर के बिना न आत्मा की स्थिति है न प्रेम की। जब दो प्राणियों में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है तो उनके मन में शारीरिक मिलन की लिए उत्कण्ठा जग पड़ती है और मिलन होने पर ही प्रेम पूर्णता को प्राप्त होता है और वह फिर युगल प्रेमियों को तन से एकाकार करके मन से भी एक कर देता है। केवल शरीर के स्तर तक का प्रेम पशु-जगत तक ही सीमित है। मनुष्य तो एक बार यदि प्रेम के लोक में विचरण कर ले तो उसके लिये किसी नये जगत के कपाट खुल जाते हैं और वह पर्त पर पर्त उसमें गहरे उतरता जाता है।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ६६६.

दिनकर ने प्रेम का परिचय इन शब्दों में दिया है -

'कहते हैं, धरती पर सब रोगों से कठिन प्रणय है।
लगता है यह जिसे, उसे फिर नींद नहीं आती है,
दिवस रुदन में, रात आह भरने में कट जाती है।
मन खोया-खोया, आँखें कुछ भरी-भरी रहती हैं,
भींगी पुतली में कोई तस्वीर खड़ी रहती है।'[१]

यह है प्रेम की विह्वल अवस्था। प्रेम रोग तो है किन्तु इस रोग से बचना कोई नहीं चाहता। ये रोग ही ऐसा है जो सहज उद्भूत है। माना कि प्रेम-पंथ में काँटे ही अधिक हैं किन्तु यदि काँटों से घबरा गया तो प्रेमी कैसा? सूफियों में यही 'प्रेम की पीर' 'इश्के हकीकी' से 'इश्के मजाजी' तक ले जाती है। भक्त भी इसीलिए अपने आराध्य से प्रेम का ही नाता जोड़ता है और मुक्ति को भी तुच्छ समझता है।

दिनकरजी ने इसी प्रेम को लेकर धरती की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। दिनकर ने 'उर्वशी' में दैवी और मानवी दो प्रकार ह के प्रेम का चित्रण किया है। दानव के प्रेम का प्रसंग उर्वशी के बलात् अपहरण के प्रसंग में आया है किन्तु वह वास्तविक प्रेम नहीं है न ही उसका चित्रण करना कवि का लक्ष्य है। कवि ने विशिष्ट रूप से दैवी और मानवी प्रेम का ही चित्रण किया है। मानवी प्रेम में भी दो रूप हैं - प्रेयसी का उन्मुक्त प्रेम और पत्नी का मर्यादित प्रेम।

दैवी प्रेम का चित्रण अप्सराओं के पक्ष में हुआ है। अप्सराएँ उन्मुक्त प्रेम की प्रतिमा हैं। वे किसी एक प्रेमी के साथ नहीं बँध सकतीं। रम्भा कहती है -

---

१. उर्वशी - प्रथम अंक, पृष्ठ १५.

प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो क्रीड़ा है,
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है।[१]

अप्सराओं का जन्म ही सबके मनोविनोद के लिये हुआ है। उनका रूप-वैभव, यौवन का उद्दाम सागर किसी एक के ही आलोड़न के लिए नहीं है। वे कभी नर का आलिंगन करती हैं कभी देवों का। मनुष्य के मन में रचना की प्रेरणा तो जगाती हैं किन्तु स्वयम् कभी बन्धन में बँधना नहीं चाहतीं। वे सागर-आत्मजा हैं और सागर के ही समान असीम-उच्छल हैं। वे गंध के समान सर्वत्र विहार करती हैं। एक ही स्थान पर रुकना अप्सराओं का स्वभाव नहीं है। देवता भी मात्र गंधों के प्रेमी होते हैं। स्पर्श के सुख की उपलब्धि उन्हें नहीं होती। अप्सराएँ कभी-कभी तन से भी मिलती हैं और अपना सारा अनुराग अधरों के मधु के साथ उड़ेल देती हैं किन्तु -

पर, यह तो रम्य विनोद है, भावों का खिलना है,
तन की उद्वेलित तरंग पर प्राणों का मिलना है।[२]

अप्सराएँ मानवी प्रेम से सदा बचना चाहती हैं क्योंकि मानवी-प्रेम का परिणाम यातनादायी है। मानवी को गर्भ-भार वहन करना पड़ता है जिसका परिणाम होता है शारीरिक सौन्दर्य की समाप्ति। कुछ अप्सराएँ किसी नर पर आसक्त होकर जब मर्त्यलोक में निवास करने लगती हैं तो उनमें नारीत्व जग भी जाता है किन्तु फिर भी सदा के लिए वे अपने प्रेमी के साथ नहीं रह पातीं। अन्ततः उन्हें अपने प्रिय को छोड़कर जाना ही पड़ता है और संयोग से उन्हें गर्भ-धारण भी करना पड़ा तो वे सन्तति का पालन नहीं करतीं यद्यपि संतान के प्रति मोह तो उन्हें होता ही है।

---

१. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ १५.
२. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ १५.

उर्वशी एक अप्सरा है किन्तु उसमें मानवीय प्रेम अपने उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। वह पुरुरवा के तेज एवं पौरुष पूर्ण सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती है। इधर पुरुरवा भी उसके अप्रतिम सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। प्रथम दर्शन में दोनों ओर प्रेम अंकुरित हो जाता है। आचार्य शुक्लजी ने इसे रूप-लोभ की संज्ञा दी है। प्रथम आकर्षण लोभ-रूप ही होता है किन्तु जब वह लोभ गहराई प्राप्त करने लगता है तो पुनर्मिलन की इच्छा बलवती होने लगती है। फिर दोनों प्रेमियों के हृदय की मिलनेच्छा विरह को जन्म देती है और विरह से प्रेम के अंकुर को धीरे-धीरे पुष्टा की गहराई मिलने लगती है। प्रेम परिपक्व हो जाता है तब उत्कण्ठा अति बलवती हो जाती है और प्रेमी को प्रिय से मिले बिना कल नहीं पड़ती। यही अवस्था उर्वशी की है। दैत्य के चंगुल से छुड़ाते समय राजा के प्रति वह आकर्षित हो जाती है और सुरपुर में भी उसे राजा की ही स्मृति बनी रहती है। उसे स्वयम् अपने शरीर की भी सुध नहीं रहती -

> सखी उर्वशी भी कुछ दिन से है खोयी-खोयी-सी,
> तन से जगी, स्वप्न के कुंजों में मन से सोयी-सी,
> खड़ी-खड़ी अनमनी तोड़ती हुई कुसुम पंखुड़ियाँ,
> किसी ध्यान में पड़ी गंवा देती घड़ियों पर घड़ियाँ,
> दृग से झरते हुए अश्रु का ज्ञान नहीं होता है,
> आया-गया कौन, इसका कुछ ध्यान नहीं होता है।[१]

उर्वशी राजा से मिलने के लिए अत्यन्त विकल है। प्रथम परिचय का प्रेम तब तक अधूरा ही होता है जब तक कि दोनों प्रेमी तन से फिर न मिल जायं। शारीरिक मिलन के बिना मन की ललक - प्रेम का उद्वेग शांत नहीं होता। यही तो है विशेषता धरती के प्रणय की जिसके लिए देवांगनाएँ भी ललकती हैं। उर्वशी अपनी सखी से कहती है कि

---

१. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ १४

'अब तुम मुझे यहाँ स्वर्ग में अधिक न रोक सकोगी । मेरे लिये तो स्वर्ग अब स्वप्न-जाल के समान असत्य बन गया है । यहाँ के नीरस जीवन से अब मन ऊब गया है । ऐसा लगता है कि कोई धरती का देवता मेरे जीवन में रस की माधुरी घोल रहा है' । उर्वशी अपने प्रिय के बिना अब अधिक जीना नहीं चाहती । सच्चे प्रेम में प्रेमी की यही अवस्था होती है और अन्त में विजय भी उसी की होती है आखिर चित्रलेखा उर्वशी को पुरुरवा के उद्यान में छोड़ जाती है और ज्योत्स्नापूर्ण रात्रि में उसकी प्रिय मिलन की कामना पूर्ण होती है ।

नारी-नर के प्रेम में बहुत अन्तर होता है । नारी केवल एक ही पुरुष से प्रेम करती है किन्तु नर की प्रवृत्ति भ्रमरवत् होती है । विशेषकर राजा आदि समृद्धिशाली पुरुषों का प्रेम प्राय: बन्धन मुक्त होता है । सहज प्राप्य वस्तु के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण नहीं रह जाता -

नयी सिद्धि-हित नित्य नया संघर्ष चाहता है नर
नया स्वाद, नव रूप, नित नूतन हर्ष चाहता है नर ।

ग्रीवा में झूलते कुसुम पर प्रीति नहीं जगती है,
जो पद पर चढ़ गयी, चाँदनी फीकी वह लगती है,
क्षण-क्षण प्रकटे, दुरे, छिपे फिर-फिर जो चुम्बन लेकर
ले समेट जो निज को प्रिय के क्षुभित अंक में देकर,
जो सपने के सदृश बाहु में उड़ी-उड़ी आती हो,
और लहर सी लौट तिमिर में डूब-डूब जाती हो,
प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में,
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के वश में ।[1]

---

१. उर्वशी - अंक २, पृष्ठ ३५-३६.

यह पुरुष का सामान्य स्वभाव है। पुरुरवा को उर्वशी से प्रेम हो गया तो उनकी परिणीता रानी औशीनरी की अन्त तक उपेक्षा ही हुई है। राजा भी उर्वशी की भाँति विकल है किन्तु उनका प्रेम बहुत मर्यादित है। राजा प्रेम में अधीर होकर स्वयम् प्रणय की भीख माँगना नहीं चाहते। नारी का तो यही मनोविज्ञान है कि वह मानपूर्वक प्रेमी से मिलना चाहती है। कोई वीर पुरुष यदि अपनी प्रिया को हरण करके लाता है या रणांगण में जीत कर लाता है तो उसका हृदय-पद्म और भी खिल उठता है। मान प्रेम का एक महत्त्वपूर्ण रूप है। राजा पुरुरवा उर्वशी के बिना अब तक निर्जीव से होकर महल में रह रहे थे। वे चाहते तो उर्वशी को देवराज से माँग कर ला सकते थे, या फिर हरण कर सकते थे, या देवों से युद्ध करके भी प्रिया को प्राप्त कर सकते थे। किन्तु, कवि ने पुरुरवा के प्रेम को महान बना दिया है। पुरुरवा जानते हैं कि भीख माँगने से प्रिया मिल भी गयी तो उसके हृदय के तार मेरे लिए खुलेंगे, इसका क्या निश्चय? वे यही सोचते हैं कि यदि मेरी प्रीति सच्ची है तो वह उर्वशी को स्वयम् कभी भी भूतल पर खींच लायेगी। सामर्थ्यवान् होकर भी सहनशीलता की राह चलना, यह है प्रेम का उत्कृष्ट रूप। जब हृदय का तार हृदय से जुड़ गया तो स्फूर्ति पैदा होगी ही। विरह उसे तपा कर खरा कंचन बना देता है और योग के समकक्ष पहुँचा देता है।

दो प्रेमी जब तन से एकाकार होते हैं तो उनकी अंग संज्ञा विलुप्त होने लगती है। वे भिन्न अवयव न होकर एक हो जाते हैं। न समय की गति का ध्यान रहता है न तन का। बल्कि वे चाहते हैं कि वे इसी प्रकार प्रेम की समाधि में डूबे रहें और समय वहीं स्थिर हो जाय। विरह में जो पल युग के समान बीतते थे अब वही समय पलों में बीत जाता है। अभिसार-मग्न प्रेमी को सर्वत्र प्रकृति में अपनी प्रिया का मुस्कराता चन्द्रानन दिखाई पड़ता है। प्रिया के नेत्रों के असीम आकाश में प्रवेश करके उसके सारे द्वन्द्व-भय मिट जाते हैं। प्रवाल से दीप्त अधरों का चुम्बन लेते ही हृदय के

पट खुलने लगते हैं। प्रेमी बार-बार यही सोचता है कि मैं किस प्रकार कोमल फूल से बिंध गया। मेरा पौरुष आज फूल के आगे निरुपाय हो गया है। धीरे-धीरे प्रेमी में जैसे कोई कवि जग पड़ता है, वह कल्पना-लोक में विचरण करने लगता है और सोचता है कि प्रेम की जन्म-भूमि तो देह ही है किन्तु उसकी सीमा त्वचा को भेद कर मन के गहन गुह्य लोकों तक प्रसरित है -

देह प्रेम की जन्म-भूमि है पर उसके विचरण की
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों तक
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है।[१]

प्रेम जब तन का अतिक्रमण कर आत्मा में स्थित हो जाता है तब धरती आकाश की सीमा विलय हो जाती है और युगल प्रेमियों को ऐसा लगता है कि -

कम कर दी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की ?
उठी हुई सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है।[२]

प्रेम-योग की समाधि में सारी सृष्टि एकाकार हो जाती है। योगी योग में लीन होकर रात्रि जागरण कर बिता देते हैं तो प्रेमी भी अभिसार-निमग्न रह कर न जाने कितनी रातें जगते हुए बिता देते हैं, वे छक कर प्रेम का मधु पीते हैं और आनन्द की धार में बहते रहते हैं। ऐसे में प्रकृति का वातावरण भी यदि मादक हो उठे तो क्या आश्चर्य -

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६२.
२. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६६

रस-प्रसन्न मधु-कान्ति चतुर्दिक ऐसे उमड़ रही है,
मानो, निखिल सृष्टि के प्राणों में कम्पन भरने को
एक साथ ही सभी बाण मन्मथ ने छोड़ दिये हों।[१]

उर्वशी में एकनिष्ठ प्रेम का दो रूपों में चित्रण हुआ है। एक प्रेम तो औशीनरी का है जो लगभग विषम प्रेम है, दूसरा है सुकन्या-च्यवन मुनि का प्रेम। इन दोनों का प्रेम अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का एकनिष्ठ प्रेम है जो कि अनुकरणीय है।

औशीनरी अपने पति को पूर्णतया समर्पित हो चुकी है। उसे जब दासियों से पुरुरवा और उर्वशी के अभिसार का समाचार मिलता है तो उसका हृदय व्यथित हो उठता है। वह सोचती है कि इस प्रकार जीते जी मरण झेलने से अच्छा तो मरना ही है। वास्तव में किसी स्त्री के लिए इससे अधिक दुखदायी परिस्थिति क्या होगी कि उसका पति अन्य स्त्री में अनुरक्त हो, फिर भी औशीनरी का प्रेम सच्चा और निष्ठा से पूर्ण है। प्रेम की ज्वाला उसके हृदय में भी जली हुई है किन्तु उसमें वह ज्वार नहीं जो पुरुरवा के प्रेम में होता है। जितनी सहज आतुरता से पुरुष का हृदय बहकता है उतनी शीघ्रता से नारी के प्रेम में ज्वार नहीं आता। उसकी लज्जा मन के आवेग को संयत रखना चाहती है। जयशंकर प्रसाद ने भी 'कामायनी' में लज्जा को मन को नियंत्रित करने वाला भाव माना है -

तुम कौन ? हृदय की परवशता ?
सारी स्वतंत्रता छीन रही;
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे,
जीवन वन से हो बीन रही ?

---

१. उर्वशी - अंक ३ पृष्ठ ६६.

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ,
मैं शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुन्दरता पग में,
नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।[१]

कुलवधू का आभूषण लज्जा ही है जो उसे प्रमदा के समान अधीर आचरण करने से रोकती है किन्तु धीरे-धीरे जब लज्जा का आवरण हटाकर नारी के मन की ज्वाला भड़कने लगती है तो पुरुष का प्रेम शिथिल, प्रशमित होना लगता है और फिर नारी को केवल पछतावे में अश्रु हाथ ही आते हैं -

किन्तु बंध को तोड़ ज्वार नारी में जब आता है,
तब तक नर का प्रेम शिथिल, प्रशमित होने लगता है,
पुरुष घूमता हमें अर्ध निद्रा में हम को पाकर,
पर, हो जाता विमुख प्रेम के जग में हमें जगा कर।
और अभी रमणी प्राणों में लिए प्रेम की ज्वाला,
पंथ जोहती खड़ी पिरोती बैठ अश्रु की माला।[२]

व्यथन-सुकन्या के प्रेम में दृढ़ता है, एकनिष्ठता है। सुकन्या का प्रेम महर्षि के तप में बाधक नहीं है, न ही उनका तपोव्रत उनके प्रणय में विघ्न डालता है। प्रणय-पाश में बंधे हुए ये उसी महासुख की चोटी पर चढ़े रहते हैं जहाँ योगी को योग और कवि को कविता ले जाती है। चित्रलेखा कहती है कि प्रणयालिंगन के अभाव में केवल मन का प्रेम अधूरा है। ऐसे में मन अतृप्ति एवं वंचना के कारण जलता रहता है। जब मन ही मलिन हुआ तो फिर तन की कान्ति कैसे ठहर सकती है। वास्तव में यह रमणी धन्य है

---

१. 'कामायनी' 'लज्जासर्ग' - चतुर्दश आवृत्ति, पृष्ठ १०७, १११.
२. उर्वशी - अंक २, पृष्ठ ३४-३५.

जो आँख मूँद कर प्रणय की रस-धार में कुसुम-समान बहती रहती है। वे त्यागी पुरुष भी धन्य हैं जिन्होंने वर्षों तक तपस्या करके अपने तन-मन को तेजोदीप्त कर लिया है। कुछ दिन उपवास करके भोग में जो आनन्द और तृप्ति मिलती है वह सतत् भोग में कहाँ ? छाया की शीतलता का आनन्द तो वह जाने जो धूप से छाया में आया हो। यहाँ ऐसा लगता है कि दिनकर यह कहना चाहते हैं कि कष्ट सहने के पश्चात् जो आनन्द उपलब्ध होता है उसकी अनुभूति ही विलक्षण होती है। सतत् भोग-रत प्रेमी को उस आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती।

सुकन्या तो बस इसी प्रेमानन्द को जानती है। नारी के पास एक ही हृदय होता है। वह एक बार वह जिसे हृदय को सौंप चुकी फिर वही उसके परम आराध्य बन जाते हैं। प्रथम परिचय का चित्र सदा उसकी आँखों में सजीव रहकर उसे आनन्दित किया करता है। ऐसे प्रेमियों का हृदय उन्हें जरा में भी नहीं त्यागता। एक दूसरे के प्रेम में खोये वे उसी प्रकार अपना जीवन बिताते हैं जिस प्रकार एक शाखा पर खिले दो सुमन एक साथ खिलते हैं और साथ ही साथ शिशिर-घाम-पावस के झटके सहते हैं -

> सचमुच, यह सुख अप्रमेय है, मन ही नन्दि-निलय है,
> क्षण भर पाकर हृदय-दान जब उतना सुख मिलता है,
> तब कितना मिलता होगा यह सुख उन दंपतियों को
> जो सदैव के लिए हृदय उत्सर्जित कर देते हैं।[१]

दिनकरजी के मानस में यही प्रेम का चरमोत्कृष्ट रूप है। जो इसे प्राप्त कर सकें वे धन्य हैं।

-----

१. उर्वशी - अंक ४, पृष्ठ ११०.

अध्याय
५

काव्य-रूप

उर्वशी नई कविता के युग में लिखी गई ऐसी काव्य-कृति है जिसमें कथा तो बहुत प्राचीन है किन्तु उसका प्रस्तुतीकरण युग-सापेक्ष है। द्रव्य तो प्राचीन है किन्तु साँचा नया है। अतः इस कृति की आलोचना करते समय यदि हम काव्य के रूढ़ लक्षणों में बँधे रहे तो यह उसके प्रति अन्याय ही होगा।

आधुनिक श्रेष्ठ कृतियों में 'उर्वशी' विद्वानों के मध्य बहुत चर्चित रही है। उसका रूप ही ऐसा है कि काव्य रूपों के प्राचीन मान्य लक्षण लेकर चलने पर यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि उसे किस काव्य रूप के अन्तर्गत माना जाय। फिर भी अधिकांश विद्वान उसे गीति नाट्य मानते हैं। कुछ विद्वान उसे नाटक और महाकाव्य का समन्वित रूप मानते हैं। कुछ आलोचक दुराग्रह से ग्रसित होकर ऐसा मानते हैं कि पूर्ण रूप से अभिनेय न होने के कारण उर्वशी नाटक के अन्तर्गत नहीं आती और नाट्य शैली अपनाने के कारण महाकाव्य में भी नहीं मानी जा सकती।

नये युग की नवीन कृति को प्राचीन मूल्यों पर कसना कहाँ तक उचित होगा? वैसे भी साहित्य में लक्ष्यग्रन्थों का आधार लेकर लक्षण-ग्रन्थों की रचना हुई है। भारतीय काव्य शास्त्र हो अथवा पाश्चात्य काव्य शास्त्र जिन विद्वानों ने महाकाव्य की परिभाषाएँ लिखी हैं और उनके लक्षण निर्धारित किए हैं उनके सम्मुख कुछ विशिष्ट कृतियाँ अपने लक्षणों का आदर्श

होती हैं। महाकाव्य की परिभाषा देते समय आचार्य दण्डी के लक्ष्य-ग्रन्थ कालिदास के महाकाव्य थे, आचार्य विश्वनाथ के आदर्शग्रन्थ माघ भारवि श्रीहर्ष के महाकाव्य थे। आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य के विषय में बहुत विस्तृत दृष्टिकोण अपनाया और सभी प्रकार के महाकाव्यों को दृष्टिगत रखकर अपने विचार प्रकट किये। प्राचीन पाश्चात्य दार्शनिकों में अरस्तू के महाकाव्य संबंधी विचार बहुत मान्य रहे हैं। अरस्तू की महाकाव्य सम्बन्धी धारणा में भी देश-काल इत्यादि का अन्तर होते हुए भी भारतीय आचार्यों की धारणा से मौलिक भेद नहीं है।

आधुनिक आलोचक तो इस विषय में बहुत उदार हैं। वे भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधारा को समन्वित रूप से ग्रहण करना अनुचित नहीं मानते। कुछ विद्वानों ने तो सामान्य रूप से दोनों में से विशेष तत्व ग्रहण कर के महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये हैं। श्री शम्भूनाथ सिंह ने युग धर्म को ध्यान में रखते हुए महाकाव्य के निम्न लक्षण निर्धारित किये हैं -

(१) महत् उद्देश्य, महत् प्रेरणा और महती काव्य प्रतिभा
(२) गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व
(३) महत् कार्य और युग-जीवन के विविध चित्र
(४) सुसंगठित जीवन्त कथानक
(५) महत्वपूर्ण नायक तथा भव्य चरित्र
(६) गरिमामयी उदात्त शैली
(७) प्रभावान्विति और गंभीर रस-व्यंजना
(८) अवरुद्ध जीवनी शक्ति और उन्नत प्राणवत्ता।[१]

---

१. शम्भूनाथसिंह - 'हिन्दी महाकाव्यका स्वरूप विकास', पृष्ठ -

डा. नगेन्द्र ने भी भारतीय तथा पाश्चात्य लक्षणों के पचड़े में नपड़ कर सामान्य रूप से महाकाव्य के पांच लक्षण निर्धारित किये हैं। वे देशकाल की सीमा में बांधने लक्षणों में अधिक आस्था नहीं रखते। उनका कथन है कि -

"मैं महाकाव्य के उन्हीं मूल तत्वों को लेकर चलूंगा जो देशकाल-सापेक्ष नहीं हैं, जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और जिनके सद्भाव में परम्परागत शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता। ये मूल तत्व हैं -

(१) उदात्त कथानक
(२) उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य
(३) उदात्त चरित्र
(४) उदात्त भाव, और
(५) उदात्त शैली, अर्थात्

औदात्त्य ही महाकाव्य का प्राण है।[१]

श्री मैथिलीशरण गुप्त का कथन है कि महाकाव्य के लिए आवश्यक नहीं कि लम्बा चौड़ा ग्रन्थ लिखा जाय बल्कि एक छोटी-सी कविता लिखकर भी महाकवि होने का परिचय दिया जा सकता है।

उर्वशी में महाकाव्य के अनेक गुण होते हुए भी शास्त्रीय दृष्टि से उसे महाकाव्य नहीं माना जा सकता। कुछ विद्वानों ने नाट्य शैली में रचित होने के कारण इसे गीतनाट्य की संज्ञा दी है।

---

१. डा. नगेन्द्र- 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ', पृष्ठ - १६.

प्राचीन काल में नाट्य रचना काव्य में ही होती थी किन्तु खड़ी बोली का विकास होने पर हिन्दी साहित्य में गद्य में ही नाट्य रचना हुई है यद्यपि उसमें आवश्यकतानुसार नृत्य गीतादि का भी संयोजन होता है।

भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य तत्वों के आधार पर नाटक के छः तत्व माने गये हैं - कथावस्तु, पात्र, संवाद, संकलनत्रय, शैली तथा उद्देश्य। इसके अतिरिक्त नाटक में पंचसंधि, कार्य-अवस्था, अर्थ-प्रकृति, नटी सूत्रधार आदि का प्रवेश, अभिनेयता, आदि का होना भी आवश्यक है। स्थान-स्थान पर पात्रों के प्रवेश तथा प्रस्थान एवं अन्य बातों की सूचना भी दी जानी चाहिये। नाटक में अन्तर्द्वन्द्व के साथ बाह्य संघर्ष भी मुख्य माना गया है।

नाटक के इन सब तत्वों को दृष्टिगत रखकर उर्वशी को नाटक माना जा सकता है किन्तु केवल गीतात्मकता के आधार पर इसे गीतनाट्य कहना समीचीन नहीं है। उर्वशी काव्य में आन्तरिक संघर्ष का प्राधान्य है।

नाट्य शैली के अनुसार इसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

सम्पूर्ण काव्य पांच अंकों में विभक्त है। अंक के प्रारम्भ में स्थान-काल-पात्रादि की सूचना दी गई है, ग्रन्थ के प्रारम्भ में सूत्रधार एवं नटी का प्रवेश भी है। पात्रों के प्रस्थान, अप्सराओं के विलीन होने की सूचना शब्दों में दी गई है। नेपथ्य का उल्लेख है। यथास्थान गीतों की भी योजना हुई है। संवादों के अतिरिक्त अन्य बातों की सूचना कोष्टकों में दी गई है, जैसे - (सुकन्या की गोद से बच्चे को लेकर हृदय से लगाती है), (बच्चे को बार-बार चुमकारती है) ये शब्द वातावरण को अधिक प्रभावशाली बनाने में सहायक होते हैं।

इस काव्य में राजा पुरूरवा तथा उर्वशी की कथा अधिकारिक है तथा सुकन्या-चित्रलेखा के वार्तालाप रूप में च्यवन की कथा, प्रासंगिक है। उसका कथानक अत्यन्त प्राचीन तथा सुप्रसिद्ध है। प्राचीन पौराणिक कथा को नये

युग के पाश्चात्य में प्रस्तुत करने में निश्चय ही कवि का महान् उद्देश्य है। वह है - संसार में नर-नारी की शाश्वत् काम-प्रवृत्ति को प्रस्तुत करते हुए जीवन की धारा में सहज रूप से चलते जाने का आग्रह तथा काम का उदात्तीकरण। कवि ने स्वयम् अपने काव्य को काम-अध्यात्म[1] की संज्ञा दी है। कवि ने काम के दो रूप बताए हैं, एक निकृष्ट काम (गरल) और दूसरा काम का सहज अमृत रूप। दिनकरजी के इस विचार पर अनेकों ढंग से विद्वानों ने टिप्पणी की है। कुछ विद्वानों ने इस पर आक्षेप लगाए हैं और कुछ विद्वान इसे निश्चय ही कवि का बड़ा ही सुन्दर व ज्ञानपूर्ण प्रयास मानते हैं। उर्वशी में काम के स्वरूप पर हमने अलग से विचार किया है अत: यहाँ विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं है।

नाट्य शैली पर लिखा हुआ काव्य होने के कारण उर्वशी को गीति नाट्य माना गया है। श्री विमलकुमार जैन लिखते हैं - 'इस प्रकार इसमें नाटक के सभी लक्षण विद्यमान तो हैं परन्तु गीत में निर्मित हैं अत: इसे गीत नाट्य कहना ही समुचित होगा।'[2]

डा. दशरथ ओझा ने गीत नाट्य को नाटक का ही एक भेद माना है। उर्वशी को गीतनाट्य कहने पर उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं पर प्रकाश नहीं पड़ता।

'उर्वशी' में नाट्य शैली के साथ-साथ प्रबन्ध काव्य के लक्षण भी विद्यमान हैं। आचार्य शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य के विषय में लिखा है - 'प्रबन्ध काव्य में मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की एक सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले, उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का

---

१. साहित्य कोश - भाग दो, पृष्ठ ४८६.
२. महाकवि दिनकर: उर्वशी तथा अन्य कृतियां, पृष्ठ - २३६.

समावेश होना चाहिये । इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता । उसके लिए घटना चक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत् चित्रण होना चाहिये जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगे उठाने में समर्थ हों । अत: कवि को कहीं तो घटना का संकोच करना पड़ता है और कहीं विस्तार ।"[१]

"प्रबन्ध काव्य के सामूहिक प्रभाव पर अधिक ध्यान रखा जाता है"[२]

आचार्य शुक्ल जी की मान्यता है घटना का संकुचित उल्लेख तो इतिवृत्तात्मक काव्य में होता है । इसमें पात्रों की हृदयगत स्थितियों की झलक कम मिल पाती है । प्रबन्ध में कथा का महत्व होते हुए भी केवल इतिवृत्त नहीं होता । उसमें पात्रों के चित्र भाव तथा परिस्थिति के अनुरूप मार्मिक रूप से प्रस्तुत होते हैं । अनेक ऐसे रसपूर्ण स्थलों की विस्तार से योजना होती है जो कि सहृदय को रसमग्न करने में समर्थ हो सके । इन्हीं रसपूर्ण स्थलों पर घटना विस्तार दिखाई देता है । 'उर्वशी' में कई ऐसे मार्मिक स्थल हैं - अप्सराओं का परस्पर हास्य-विनोद तथा चित्रलेखा द्वारा किया गया उर्वशी की प्रेमाकुल अवस्था का चित्रण, उर्वशी-पुरुरवा का अधीर मिलन और उसके विषय में सुनकर औशीनरी का नि:श्वास भर कर रह जाना; पुरुरवा-उर्वशी का अभिसार, पुत्र जन्म के पश्चात् उर्वशी की चिन्ताग्रस्त स्थिति-भरत शाप का स्मरण (पुत्र या पति में से किसी एक को ही प्राप्त करने का कथन) भावी वियोग की आशंका - अब पति-पुत्र दोनों ही छिन जायेंगे, अचानक पुत्र आयु का मुख देखते ही राजा का विस्मयपूर्ण हर्ष से विह्वल होना, तभी उर्वशी को न पाकर पुरुरवा का वीरोचित रोष, पुरुरवा के प्रव्रजित

---

१. 'जायसी ग्रन्थावली' 'वक्तव्य', पृष्ठ ६६-६७ - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल.
२. 'काव्य के रूप' पृष्ठ ८०, संस्करण - गुलाबराय, एम.ए.

होने के पश्चात् औशीनरी की करुण व्यथा का वर्णन आदि। इनमें भी कुछ स्थान तो विशेष रूप से प्रभावशाली हैं। उर्वशी का तीसरा अंक घटना प्रधान न होते हुए भी बहुत हृदयग्राही है। इसमें गूढ़ चिन्तन-मनन के साथ युगल प्रेमियों का आलोड़न-विलोड़न और शृंगार की मादकता भी परिव्याप्त है। घटना का विस्तार है किन्तु कवि ने इसे अद्भुत रूप से प्रभावोत्पादक बना दिया है। पुरुरवा का पुत्र पाकर हर्षातिरेक के कारण विक्षिप्त-सा हो जाना और अंत में औशीनरी की करुण स्थिति पर कवि की नारी सम्बन्धी उक्तियाँ बहुत ही मन को छूने वाली हैं। 'उर्वशी' में स्थूल रूप से कथा का क्रम राजा पुरुरवा के सन्यास ग्रहण करने के साथ समाप्त हो जाता है किन्तु दिनकर नारी नारी की व्यथापूर्ण कथा कहने का लोभ संवरण नहीं कर पाये। यहाँ पाठक का हृदय नारी की गरिमा के प्रति श्रद्धा से नत हो उठता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवि को यदि गीति नाट्य की रचना करना ही अभीष्ट होता तो वह बीच-बीच में जीवन की गूढ़ समस्याओं पर विचार न करता। दिनकर ने किसी उद्देश्य को लेकर ही पुरुरवा-उर्वशी का आख्यान अपना विषय चुना। अन्यथा वे भी विक्रमोर्वशीयम के समान नाट्य रचना कर सकते थे। यह रचना गद्यात्मक न होकर पद्यात्मक होती, यह और बात है। दिनकरजी ने खुद लिखा है -

कहने भर को प्राचीन कथा,
पर इस कविता की मर्म-व्यथा
आज के विलोड़ हृदय की है
सबकी सब इसी समय की है

× × × ×

खंडहर हो, हो भग्नावशेष,
पर कहीं बचा हो स्नेह शेष,
तो आ उसको ले जाता हूँ,
निज युग का दिया जलाता हूँ। 'उर्वशी' काव्य की समाप्ति'

उर्वशी में जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है। मानव-अनुभूतियों की सहज रसात्मक अभिव्यक्ति है। इसकी शैली बहुत ही सरस, अलंकृत व उदात्त है। दिनकर की भाषा तो भावाभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ है ही। इसमें कहीं भी प्रयास दिखाई नहीं पड़ता।

इस प्रकार प्रबन्ध काव्य के गुणों से युक्त होते हुए भी नाट्य शैली में रचित होने के कारण उर्वशी को नाट्य प्रबन्ध काव्य कहा जा सकता है। जीवन के महत्वपूर्ण पक्ष काम पर गहराई से चिन्तन करने के लिए प्रबन्ध काव्य ही सब प्रकार से उपयुक्त है। प्रबन्ध का बन्धन कथा के लिए है। इसकी शैली में भी प्रभावोत्पादकता होना आवश्यक है। उर्वशी के संवाद जहाँ पाठक के हृदय पर तीखे चोट करते हैं वहीं उनकी काव्यात्मकता ने उन्हें रससिंचित करके और भी तीव्र वेगपूर्ण बना दिया है एवं उसे महाकाव्यात्मक गरिमा प्रदान कर दी है।

अध्याय

७

रस-योजना

व्युत्पत्ति के अनुसार रस शब्द के दो अर्थ हैं प्रथम है आस्वाद - 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' तथा दूसरा है द्रवत्व - 'सरते इति रसः'। रस शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में होता आया है जैसे षड्रस - रसना का सुख, इन्द्रिय-सुख। वेदों में सोमरस, निर्गुण भक्त कवियों में राम-रसायन अथवा ब्रह्मरंध्र में स्थित अमृत-रस के रूप में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है।

साहित्य-शास्त्र में इस शब्द का प्रयोग 'काव्यानन्द' अथवा 'काव्यास्वाद' के लिए हुआ है। भरत मुनि ने सर्वप्रथम 'नाट्य-शास्त्र' में रस की व्याख्या की है। भरत का सूत्र है - 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। 'काव्य पढ़ने, सुनने या अभिनय देखने पर विभावादि के संयोग से निष्पन्न होने वाली आनन्दात्मक चित्तवृत्ति ही रस है।'[1]

'साहित्य दर्पण' में विश्वनाथ ने सत्त्वोद्रेक को रस का हेतु बताया है,[2] और रस को अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर स्पर्शशून्य,

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृष्ठ ६७०, संस्करण सं० २०२०.

२. सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः,
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः
लोकोत्तर चमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवद भिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः
साहित्य दर्पण, परिच्छेद ३, कारिका २,३.

ब्रह्मानन्दसहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा है। उपनिषदों में 'रसो वै सः' कह कर ब्रह्म को ही रस रूप माना गया है। इसके अनुसार आनन्द ही प्राण-रूप है जब तक आनन्द तत्व है तभी तक जीवन है और अन्त में भी सब कुछ आनन्द में ही लय हो जाता है।

साहित्य के सन्दर्भ में रस को नौ प्रकार का माना गया है - शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीभत्स, भयानक, अद्भुत, वीर एवं शान्त। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद होने के कारण कुछ आचार्यों ने उसे नाट्य में अप्रयोज्य माना किन्तु फिर भी अधिकांश रूप से नवरस ही साहित्य में प्रतिष्ठित हैं। कालान्तर में भक्ति और वात्सल्य को भी शृंगार रस के अन्तर्गत मान लिया गया और इस प्रकार शृंगार को रसराज रूप में प्रतिष्ठित किया।

शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। शृंगार को रसराज मानने वालों ने सभी अन्य रसों को रतिमूलक शृंगार से उद्भूत माना है। प्रकृतिवादी इसे आद्यरस मानते हैं। रीतिकालीन आचार्यों ने भी शृंगार को ही 'नायक' अथवा रसराज की उपाधि प्रदान की है इसका कारण है कि शृंगार का क्षेत्र बहुत विशाल है। सरदार कवि ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य सुधानिधि' में कहा है कि अन्य रसों के उद्दीपन अधिकतर मानुषी हैं जबकि शृंगार के उद्दीपन मानवी तथा दैवी दोनों हैं। तथा इसके उद्दीपन चारों भाव स्वयम् सर्वत्र सुलभ हैं। इसके अतिरिक्त शृंगार के संयोग तथा विप्रलम्भ दो रूप भी हैं। इसके कारण इसका महत्त्व अधिक बढ़ गया है।

संयोग-शृंगार का लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है-

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं संयोगोऽयमुदाहृतः ॥[1]

---

१. साहित्य दर्पण, परिच्छेद ३, कारिका २१०.

अर्थात् जब नायक-नायिका परस्पर प्रेमानुरक्त होकर दर्शन-स्पर्शनादि करते हैं तब वह संभोग शृंगार होता है।

'उर्वशी' एक नाटिकाप्रधान काव्य है। इसकी नायिका अप्सरा उर्वशी स्वर्ग से मृत्युलोक में शृंगारोपभोग के लिए आती है उसकी कामना-रूप में शृंगार रस सम्पूर्ण ग्रन्थ में व्याप्त है। उर्वशी में शृंगार के दोनों पक्षों का चित्रण हुआ है किन्तु प्रधानता संभोग अथवा संयोग शृंगार की ही है। विप्रलम्भ का चित्रण तो पूर्वानुराग के पश्चात् की मिलाकांक्षा के रूप में हुआ है।

शृंगार में विप्रलम्भ का महत्व असंदिग्ध है फिर भी मूल रूप से संयोग ही प्रधान है अतः हम सर्वप्रथम उर्वशी में वर्णित हुए संयोग शृंगार पर ही विचार करते हैं।

उर्वशी में सर्वप्रथम प्रकृति का मनोहारी चित्रण हुआ है। प्रकृति में वसन्त की सी मादकता आई हुई है। पृथ्वी पर छिटकी हुई शीतल चाँदनी, मंद-मंद बहता सुवासित समीर, नील गगन में छिटके हुए तारे सभी मिलकर उद्दीपन का ही प्रभाव अंकित कर रहे हैं।

दिनकरजी ने काव्य के प्रथम अंक में प्रकृति का मादक चित्र खींचकर पाठक की मनःस्थिति को पहले ही रसानुकूल कर लिया है।

उर्वशी राजा से मिलने के लिए प्रमदवन में जैसे ही उपस्थित होती है तो राजा अधीर होकर उसे बाहों में भर लेते हैं। उर्वशी का सौन्दर्य अनुपम है साथ ही उसके अंगों में लास्य की ऐसी लहर है जो विरागी मन में भी राग जगा दे और मन उसे पाने को अधीर हो उठे। उर्वशी महाराजा के अंक में ऐसे समा गयी जैसे कि पर्वत के पंखों में सिमटी हुई कोई लता

महाराज प्रेमाकुल होकर कहते हैं - आज सुख की मादक तरंग में हृदय जाने कौन सा और क्या चाहता है। आखिर इसका उपचार क्या है?

लगता है जैसे रक्त की धार हृदय को भेद कर बाहर आना चाहती है। आज प्राणों में ऐसी कौन सी दिव्य लहर जाग उठी है? सुख की इस समाधि का कोई ओर नजर नहीं आता जहाँ तक प्राण डूबे हैं बस रस ही रस दिखाई देता है -

गहा चाहता सिन्धु प्राण का कौन अदृश्य किनारा ?
हृदय चाहती किसे हृदय को फाड़ रक्त की धारा ?

* * * *

सुगम्भीर सुख की समाधि यह भी कितनी निश्चल है ?
डूबे प्राण जहां तक, रस ही रस है, जल ही जल है।[१]

यह संयोग का बहुत ही उदात्त चित्रण है इसमें उर्वशी आलम्बन है, शीतल-मधुर चान्द्रका स्वयं उर्वशी का सौन्दर्य उद्दीपन है। अधीर होकर आकुलता से उसे बाँहों में भर लेना तथा हृदय के आवेग को व्यक्त करना अनुभाव है इस चित्रण को उषा के पूर्वानुराग के विरह तथा स्मृति ने और भी गहन बना दिया है। पुरुरवा उसे 'प्राणों की मणि' मनोज्ञ मोहिनी आदि शब्दों से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि 'विदा के समय तूने जिस मधुमय नयन से मुझे देखा था वह प्रतिमा - वह दृष्टि आज भी मेरे मन में ऐसी ही विद्यमान है।' स्मृति के साथ ही मिलनाकांक्षा उद्भूत होती है। राजा कहते हैं कि 'जब तेरा ध्यान आते ही सारा तन चुम्बन की कल्पना से सिहर उठता था। मेघों में, चन्द्रमा में, फूलों में, सर्वत्र मुझे तेरा ही यह अनुपम सौन्दर्य नजर आता था किन्तु तेरे अभाव में मन की तृष्णा कैसे मुक उठती थी। आज ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी तृष्णा को शान्त करने के लिए ही जैसे तुम घनाली बनकर आयी हो।'

---

१. उर्वशी - अंक २, पृष्ठ ३१.

प्रेम में प्रवर जिस प्रकार पुष्प के आसपास ही मंडराता रहता है उसी प्रकार प्रेमी भी प्रिय से क्षणमात्र को भी विलग होना नहीं चाहता। जिधर-जिधर प्रेमिका चलती है वह भी भ्रमर होकर उसके रूपरस को पान करता हुआ साथ-साथ चलता है और प्रेमिका को नाना भाँति के शृंगार सजा कर आवेग को व्यक्त करता रहता है। पुरुरवा अपनी प्रिया को किसलय, पराग, पुष्पों आदि से सज्जित करते हैं। कभी उससे भी तृप्ति नहीं होती तो और भिन्न-भिन्न प्रकार से उसका शृंगार करते हैं। उर्वशी तो जैसे निश्चिन्त होकर इस आनन्द सागर में बह रही है। उसका मौन भी उसके रसातिरेक को व्यंजित कर रहा है। यहाँ संयोग शृंगार अपने सारे साज के साथ पूरे ठाट से विराजमान है।

उर्वशी का तृतीय अंक शृंगार - चित्रण की दृष्टि से अद्वितीय है। काव्य का यह भाग मानो स्वयम् शृंगार का एक गहन सागर है जो पाठक को भी गहरे डुबाकर निमग्न कर लेता है। रस-सिद्धान्त में यही प्रक्रिया साधारणीकरण के नाम से विख्यात है। पाठक संयोग शृंगार के चित्रण के दौरान यद्यपि दूसरों द्वारा अनुभूत किये हुए रस को ही अनुभव करता है किन्तु काव्य में रस की स्थिति इसी रूप में मानी गई है। स्वयम् अनुभूत किया जाने वाला आनन्द क्षणिक है इसी कारण वह आनन्द की श्रेणी में तब आता है जब सहृदय कल्पना में उसका अनुभव करता है और जब काव्य में आया हुआ सम्पूर्ण चित्रण उसे ऐसा अनुभव करने में सक्षम होता है अन्यथा रसाभास होकर रह जाता है।

संयोग की एक विशेषता है कि जब प्रिय-प्रेयसी निकट होते हैं तो समय का भान ही नहीं रहता न जानें कितनी रातें आती हैं और चली जाती हैं किन्तु प्रेमी अपनी प्रेयसी के साथ अभिसार में ऐसा भूला रहता है कि उसे समय की गति का कुछ पता नहीं चलता। वही समय विरह में अजगर के समान लगता है। विरह का एक-एक पल युग के समान बीतता है। उर्वशी अपनी मिलनपूर्व की विरहावस्था का वर्णन राजा के सम्मुख करती है कि "जब तुम्हें देखने के पश्चात् मैं देवलोक वापस लौट गई तो मेरी अवस्था बड़ी विचित्र

थी । हृदय में तुम्हारे प्रति अनुराग जग गया था । दिवा-रात्रि तुम्हारे विरह में मानों युग के समान लम्बे हो गये थे ।' पुरुरवा भी अपनी पूर्ववेदना को व्यक्त करते हैं कि 'जब से तुम्हें देखा था मन तुम्हें पाने को बेचैन था । मन में ललक उठती थी कि किसी भी प्रकार तुम्हें बाहुपाश में बाँध लूँ किन्तु मैंने प्रणय के लिए मर्यादा भंग नहीं की । यही सोचा कि यदि मेरी प्रीति सच्ची है तो वह तुम्हें पृथ्वी पर अवश्य खींच लावेगी ।' प्रेमी-प्रेमिका का आपस में अपनी व्यथा सुनाना तथा उपालम्भ आदि देना संयोग का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण है ।

परिरम्भ-पात्र में आबद्ध युगल प्रेमियों का मन यही चाहता है कि वह इस प्रेमी के उर पीड़क आलिंगन में बंधे रहें और वह समय से प्रार्थना करते हैं -

रुको समय-सरिते! पल! अनुपल! काल-शकल! घटिकाओ!

कहीं कुण्डली मार बैठ जाओ नक्षत्र-निलय में,
मत ले जाओ खींच निशा को आज सूर्य-वेदी पर ।[१]

उर्वशी-पुरुरवा आनन्द में डूबते-डूबते इतने गहरे उतर जाते हैं कि वह वे सामान्य नर-नारी मात्र रह जाते हैं । पुरुरवा को सारी सृष्टि में प्रिया का ही मुख-कमल मुस्कराता नजर आता है, वे कहते हैं कि -

आह, रूप यह उड़ूँ जहाँ भी, चारों ओर भुवन में
यही रूप हँसता, प्रबन्ध, इंगित करता मिलता है
सूर्य-चन्द्र में नक्षत्रों-फूलों में, तृणों-द्रुमों में ।[२]

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६६.
२. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ८६.

उर्वशी और पुरुरवा धीरे-धीरे प्रेमानन्द में डूबकर चिन्तन में खो जाते हैं। यह चिन्तन उन्हें रस के अचेतन लोक में ले जाता है जहाँ प्रेम शरीर के स्तर से ऊपर उठकर आत्मा के बल्कि यूँ कहिये कि आध्यात्म के स्तर पर पहुंच जाता है। कुछ विद्वानों ने तीसरे अंक पर यह आरोप लगाया है कि उर्वशी-पुरुरवा का यह चिन्तन रस की दृष्टि से बाधक है। किन्तु हमें ऐसा नहीं लगता। शृंगार रस की यही विशेषता है कि उसके संयोग व विप्रलम्भ दोनों ही क्षेत्र बहुत विशाल हैं। संयोग में भी जब तक तृप्ति नहीं हो, यह आनन्द-निमग्न कैसे कर सकता है? शरीर से एक होने पर प्रेमी जब मन से भी एकाकार होने लगते हैं तब उनके लिए यह सारी सृष्टि आनन्द-भूमि बन जाती है। उनके लिए सारा जगत ही प्रिय रूप हो जाता है और वे चिन्तन में डूब जाते हैं और सोचते हैं कि यह हमारा कालिक मिलन आज नया नहीं है। हम जन्म-जन्मान्तरों से सदा वर-नारी बनकर इसी संसार में मिलते आये हैं। हमारा यह सहज मिलन हमें ईश्वर से दूर ले जाने वाला नहीं है क्योंकि यह संसार भी तो उसी अनादि पुरुष की प्रकृति है, जिसने हमें बनाया है।

इस प्रकार तृतीय अंक में दिनकरजी का चिन्तन रस का बाधक नहीं बल्कि उसने रस को भव्यता प्रदान की है।

उर्वशी-पुरुरवा के अतिरिक्त च्यवन और सुकन्या के रूप में भी संयोग शृंगार का चित्रण हुआ है जबकि चित्रलेखा सुकन्या से पूछती है कि जब मुनि तेरा स्पर्श पाकर समाधि से जाग उठे तो तुझे भय नहीं लगा? सुकन्या कहती है कि "मुझे देखकर महर्षि का क्रोध कपूर हो गया और मुख पर सौम्यता छा गई। उन्होंने मुझे अपने तप की विधि मानकर ग्रहण किया। वे कहने लगे कि तुम्हें यह रूप कहाँ से मिला जिसे देखकर इस स्थाणु की भी दाहकता मिट गयी और उसमें स्नेह के पल्लव फूटने लगे हैं। मैं भी ऐसा सुनकर आत्मादित हो उठी। ऐसा लगा मानों प्रथम बार ही मुझमें भी कहीं से नारीत्व जाग उठा है।"

यहाँ सुकन्या-च्यवन परस्पर अवलम्बन वाक्य हैं महर्षि का क्रोध कपूर हो जाना, सुकन्या का प्रसन्नता से भर उठना, लज्जा से नत हो जाना महर्षि का मधुर वचन, कहना आदि बड़े ही मधुर अनुभाव हैं। इसमें गर्व, उत्सुकता, चपलता, हर्ष, लज्जा आदि संचारी भाव हैं।

उर्वशी में संयोग शृंगार के साथ विप्रलम्भ का चित्रण भी बहुत आकर्षक रूप से हुआ है। यह विशेष रूप से उर्वशी के पूर्वानुराग के पश्चात् मिलनाकांक्षा के रूप में तथा चतुर्थ अंक में भावी विरह की आशंका के रूप में हुआ है। पूर्वानुराग के पश्चात् का विरह वर्णन पुरुरवा-उर्वशी दोनों की ओर से हुआ। तथा चित्रलेखा भी प्रथम अंक में सखी उर्वशी की विरहावस्था का वर्णन अन्य अप्सराओं के सम्मुख करती है।-

सखी उर्वशी भी कुछ दिन से है खोयी-खोयी-सी,
तन से जगी, स्वप्न के कुंजों में मन से सोयी-सी।
खड़ी-खड़ी अनमनी तोड़ती कुछ कुसुम-पंखुड़ियां,
किसी ध्यान में पड़ी गंवा देती घड़ियों पर घड़ियां।
दृग से करते कुछ अनु का ज्ञान नहीं होता है,
आया गया कौन, इसका कुछ ध्यान नहीं होता है।
मुख-सरोज मुसकान बिना आभा-विहीन लगता है,
भुवन-मोहिनी श्री का चन्द्रानन मलीन लगता है।[१]

आशंकाजनित विरह का चित्रण चतुर्थ अंक में हुआ है जब उर्वशी कहती है कि जब राजा पुत्र का मुख देखेंगे तब हमारा विछोह अवश्यम्भावी होगा और वह समय कितना दारुण होगा। स्वर्ग में भी मुझे वसुधा का यह सुख सदा याद आता रहेगा।

---

१. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ १४.

आह! गन्धमादन का वह सुख और अंक प्रियतम का
सखी! स्वर्ग में जो अलभ्य है, उस आनन्द मदिर का
इसी तरह वसुधा पर, मैंने छककर पान किया है। [1]

विप्रलम्भ-शृंगार में साहित्य दर्पणकार ने वियोग की दस अवस्थायें लिखी हैं - अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मरण।

मरण के अतिरिक्त उर्वशी में ये सभी दशाएँ उपलब्ध हैं इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं -

अभिलाषा -

हुआ लौट आया उस दिन उन्माद मेघों के वन से
नीति-प्रीति, संकोच-शील का ध्यान न टिकता था;
मुझे पुकार उस सपने के पीछे-पीछे जाना था। [2]

(पुरुरवा का कथन)

यही चाहती हूँ कि गन्ध को तन हो, उसे धरूँ मैं,
उड़ते हुए अदेह स्वप्न की बाहों में जकड़ूँ मैं।
निराकार मन की उमंग को रूप कहीं से पाऊँ,
फूटे तन की आग और मैं उसमें तैर नहाऊँ। [3]

(उर्वशी का कथन)

चिन्ता -

जो भी कहूँ सखी पर वह दिन आने ही वाला है,
छिन जायेगा जब समस्त सौभाग्य एक ही क्षण में,
उड़ जाऊँगी छोड़ भूमि पर सुख समस्त भूतल का
जैसे आत्मा देह छोड़ अम्बर में उड़ जाती है। [4]

---

१. उर्वशी-अंक ४, पृष्ठ १२७.
२. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ २३.
३. उर्वशी-अंक १, पृष्ठ २१.
४. उर्वशी - अंक ४, पृष्ठ १२८.

स्मृति -

लगता है, कोई शोणित में स्वर्णतरी खेता है,
रह-रह मुझे उठा अपनी बाँहों में भर लेता है।
कौन देवता है जो यों छिप-छिप कर खेल रहा है,
प्राणों में रस की अरूप माधुरी उड़ेल रहा है ?[1]

गुणकथन -

दर्पण, जिसमें प्रकृति रूप अपना देखा करती है
वह सौन्दर्य, कला जिसका सपना देखा करती है
नहीं उर्वशी नारि नहीं, आभा है निखिल भुवन की;
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की।[2]

उद्वेग -

जाने, कब तक पारितोष प्राण पायेंगे ?
अंतराग्नि में पड़े स्वप्न कब तक जलते जायेंगे ?
जाने कब कल्पना रूप धारण कर अंक भरेगी ?
कल्पलता, जाने, आलिंगन से कब तपन हरेगी ?[3]

प्रलाप -

मेरे अश्रु ओस बन कर कल्प द्रुम पर छायेंगे,
पारिजात-वन प्रसून आहों से कुम्हलायेंगे।
मेरी मर्म पुकार मोहिनी वृथा नहीं जायेगी,
आज न तो कल तुम्हें इन्द्रपुर में वह तड़पायेगी।[4]

उन्माद -

खड़ी-खड़ी अनमनी तोड़ती हुई कुसुम-पंखड़ियाँ
किसी ध्यान में पड़ी गंवा देती घड़ियों पर घड़ियाँ।[5]

---

१. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ २१.
२. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ २४.
३. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ २४.
४. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ २५.

व्याधि -

भ्रूविलास शृंगार बिना आभा विहीन लगता है
भुवन-मोहिनी सी था चन्द्रानन मलीन लगता है।[1]

जड़ता -

और छोड़ कर तुम्हें तुम्हारी सखियों के हाथों में,
लौटा जब मैं राज-भवन को, लगा देह ही केवल,
रथ में बैठी हुई किसी विध गृह तक पहुँच गई है।[2]

मरणावस्था का चित्र अक्सर वियोगावस्था में नहीं होता क्योंकि मरण के पश्चात् इस दशा के विचार से करुण का ही प्राधान्य हो जाता है। वैसे विरह में उर्वशी का कथन है कि 'यदि आज कान्त का अंक प्राप्त न कर सकी तो निश्चय ही यह देह त्याग कर पवन में मिल जाऊँगी'। यह दशा मरण की निकटता को सूचित करती है।

औशीनरी का वियोग-चित्रण करुण वियोग के अन्तर्गत है क्योंकि उसका पति अन्य नारी में आसक्त है और वह अन्त तक उपेक्षिता ही रहती है।

महाराज के प्रव्रजित हो जाने के पश्चात् रानी औशीनरी का वियोग पूर्ण रूप से करुण रूप धारण कर लेता है। अंत में रानी को सिवाय आँसू बहाने के और कुछ हाथ नहीं लगता। उसकी निम्न उक्ति कितनी हृदय-द्रावक है -

'रूठ गये क्यों दयित, हाय, उस नीरव, निभृत निलय में
बैठी है कोई अखण्ड व्रतमयी समाराधन में,
अनुमुखी माँगती एक ही भीख त्रिलोक-शरण से
क्षण भर भी मत अकल्याण हो प्रभो कभी स्वामी का।[3]

---

१. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ १४.
२. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ४४.
३. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १५७.

इसमें राजा पुरूरवा आलम्बन है उनका प्रव्रजित होकर बिना कहे चले जाना उद्दीपन है। आहें भरना, आँखों में अश्रु भर आना, दीन वचन कहना अनुभाव है तथा दैन्य, मोह, स्मृति और विषाद आदि संचारी भाव हैं।

वीर रस का चित्रण तब होता है जब उर्वशी अन्तर्धान हो चुकी है और राजा प्रिया को पुनः प्राप्त करने के लिये युद्ध की घोषणा करते हैं और धनुषादि शस्त्र तैयार करने का आदेश देते हैं :-

लाओ मेरा धनुष, सजाओ गगन-जयी स्यन्दन को,
समय नहीं, अब शत्रु स्वर्गपुर मुझे आज जाना है।

उठो बजाओ पटह युद्ध के कह दो पौरजनों से,
उनका प्रिय सम्राट स्वर्ग से वैर ठान निकला है,[1]

रौद्र रस का अंकन राजा की क्रोधपूर्ण उक्तियों के रूप में हुआ है। जबकि महामात्य उन्हें शान्त करते हुए कहते हैं :- `महाराज हों शान्त, कोप यह अनुचित नहीं, उचित है; किन्तु दनुज क्या इस अपूर्व अवसर से अलग रहेंगे? मिल जायेंगे वे अवश्य आकर मनुष्य-सेना में।` तब पुरूरवा उनके इन वचनों को कायरता मानकर कहते हैं -

कायरता की बात तुम्हारे मन को सता रही है

जब मनुष्य चीखता, व्योम का हृदय दरक जाता है,
सहम-सहम उठते सुरेन्द्र उसके तप की ज्वाला से
और कहीं जो क्रुद्ध मनुज कर दे आह्वान प्रलय का,
स्वर्ग, सत्य ही, टूट गगन से भू पर आ जायेगा।
क्यों लेंगे साहाय्य दनुज का ? हम मनुष्य क्या कम हैं ?[2]

---

१. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १४५-४६.
२. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १४७.

इसमें पुरूरवा आश्रय है, देवराज आलम्बन है तथा उर्वशी को सुरपुर में स्थान देना उद्दीपन है। क्रोधित एवं गर्वपूर्ण वचन कहना अनुभाव है एवं गर्व, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं।

भयानक का अंकन महर्षि च्यवन और सुकन्या के सन्दर्भ में हुआ है क्योंकि सुकन्या कुतूहलवश ध्यानावस्थित मुनि की पलकें खींच लेती है और मुनि की समाधि टूट जाती है। वे क्रोधित नेत्रों से देखते हैं और सुकन्या भयभीत हिरणी के समान जड़वत् खड़ी रहती है -

पर नयनों के खुलते ही उद्भासित रंध्र-युगल से,
लगा, वह्नि ही स्वयम् फूट कर बढ़े चले आते हों,
और नहीं कुछ, एक ग्रास में मुझे लील जाने को।
रंचमात्र भी हिली नहीं, निष्कम्प, चेतना-हीना,
खड़ी रही उस भय-स्तम्भ-सी शिला, त्रस्त मृगी-सी,
जिसकी मृत्यु समक्ष खड़ी हो मृग रिपु की आंखों में।[1]

अद्भुत का चित्रण उस समय हुआ है जब राजा सभासदों के सम्मुख अपने विचित्र स्वप्न का वर्णन करते हैं। जब सुकन्या आयु के साथ राजसभा में प्रवेश करती है तो राजा का आश्चर्य और भी बढ़ जाता है -

महाश्चर्य! अघटन घटना! अद्भुत, अपूर्व लीला है।
यह सब सत्य यथार्थ या कि फिर सपना देख रहा हूं।[2]

इसी प्रकार उर्वशी के अकस्मात् लुप्त हो जाने पर सभी को बड़ा आश्चर्य होता है, महामात्य कहते हैं -

महाराज! आश्चर्य! उर्वशी देवी यहां नहीं है
कहां गयी? थीं खड़ी अभी तो यहीं निकट स्वामी के?[3]

---

१. उर्वशी - अंक ४, पृष्ठ १११.
२. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १४१.
३. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १४२.

इस प्रकार एक से एक आश्चर्यजनक घटना अप्रत्याशित रूप से घटित होती जाती हैं और राजा तथा सभी सभासद् यन्त्रवत् सारा दृश्य देखते रह जाते हैं। इन घटनाओं में अद्भुत रस का अंकन बड़ी सफलता के साथ हुआ है।

उर्वशी में शृंगार के पश्चात् वात्सल्य का अंकन बहुत ही मार्मिक हुआ है।

वात्सल्य का अंकन सर्वप्रथम उर्वशी के पक्ष में हुआ है जब वह बार-बार अपने शिशु आयु को हृदय से लगाकर चुमकारती है और यह कामना करती है कि उसका लाल अपने पिता के सदृश प्रतापी बनेगा तथा उसके शासन में प्रजा पूर्ण सुखी रहेगा। उसे पुत्र को सुकन्या के पास छोड़ते समय अपार वेदना होती है किन्तु शाप की विवशता के कारण उसे जाना ही पड़ता है।

उर्वशी के अतिरिक्त सुकन्या का भी शिशु के प्रति वात्सल्य पूर्ण सजग है। वह कहती है कि तुम्हारा यह लाल हमारी पर्ण कुटी का प्रकाश, हमारी आंखों का तारा होगा। धीरे-धीरे जब यह बड़ा होगा तब यह होमधेनुओं को चराने ले जायेगा - फिर धीरे-धीरे महर्षि के साथ मंत्र पढ़कर हवन किया करेगा -

हवन धूम से आँखों में जब वाष्प उमड़ आयेंगे
तब मैं दोनों नयन पोंछ दूँगी अपने अंचल से।[1]

औशीनरी, यद्यपि अपेक्षिता है किन्तु मातृत्व उसमें भी पूर्ण सजग है वह अपना अधिकार हरण करने वाली सपत्नी उर्वशी के पुत्र आयु को पूर्ण ममत्व से हृदय से लगाती है बल्कि आयु को प्राप्त कर उसका प्यासा नारी-हृदय खिल उठता है -

---

१. उर्वशी - अंक ४, पृष्ठ १३०.

तुझे प्यास वात्सल्य-सुधा की, मैं भी उसी अमृत से
बिना लुटाये कोष हाय! आजीवन भरी रही हूं।

किन्तु, प्राप्त कर तुझे आज, बस, यही भान होता है,
क्षय-मार से मेरी सब डालियां झुकी जाती हैं।
हाय, पुत्र! मैं भी जीवन भर बहुत-बहुत प्यासी थी;
शीतल जल का पात्र अधर से पहले-पहल लगा है।[१]

वात्सल्य का चित्रण अक्सर नारी (माता) के पक्ष में ही होता आया है किन्तु उर्वशी में दिनकर ने पुरुरवा (पिता) के पक्ष में भी वात्सल्य का बड़ा हृदयग्राही चित्रण किया है। जब वे अकस्मात् ही पुत्र का मुख देखते हैं तो उनकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। वे हर्षोन्माद में विह्वल होकर कह उठते हैं -

पुत्र! अरे, मैं पुत्रवान् हूँ, घोषित करो नगर में,
जो हो जहाँ, वही से मेरे निकट उसे आने दो।

पुत्र! अरे, कोई संभाल रखो मेरी संज्ञा को,
न तो, हर्ष से अभी विकल-विक्षिप्त हुआ जाता हूँ।[२]

यह कवि की लेखनी की सशक्तता का ही प्रमाण है कि वात्सल्य को पूर्ण रस कोटि तक पहुंचाने में समर्थ हुई है।

शान्त का चित्रण पुरुरवा के पक्ष में हुआ है जबकि प्रारब्ध उन्हें उनकी भूल का बोधकराता है और वे अन्त में विरक्त होकर प्रव्रजित होने

---

१. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १५५.
२. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १५१, १५२.

को तत्पर होते हैं। पुरुरवा कहते हैं कि वास्तव में झूठी माया में फंसकर वृथा तक में भूला हुआ था। भगवान सूर्य भी जब दिन भर तप कर शाम को विश्राम लेते हैं फिर मैं ही क्यों तपता रहूँ?

यहाँ संसार की निस्सारता आलम्बन है, माया-मोह की क्षण-भंगुरता उद्दीपन है, मन का विरक्त होना अनुभाव है तथा निर्वेद, ग्लानि, स्मृति, धृति आदि संचारी भाव हैं।

उर्वशी में हालांकि सभी रसों का अंकन है किन्तु प्रधानता शृंगार की ही है। यद्यपि अंत में नायक विरक्त होकर प्रज्ञ्या ग्रहण करता है किन्तु दिनकर राजा के सन्यास ग्रहण करने के पश्चात् चुप हो गये हैं। वे भूमिका में लिखते हैं -

'स्वर्ग और पृथ्वी के बीच घटित इस निष्ठुर आवागमन से मनुष्य का निस्तार कभी होगा या नहीं, इसका विश्वसनीय ज्ञान नये मनुष्य को छोड़कर चला गया है। इसलिए मैं इस विषय में मौन हूं कि पुरुरवा जब सन्यास लेकर चले गये, तब उनका क्या हुआ।'[१]

निर्वेद में पर्यवसान होने पर भी, 'उर्वशी' एक शृंगार प्रधान काव्य के रूप में पाठक के मन पर प्रभाव अंकित करती है।

'कामायनी' में प्रसाद ने अन्तिम सर्ग में इच्छा, क्रिया-ज्ञान का समन्वय कर समरसता की स्थापना की है किन्तु दिनकर मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों को उद्घाटित करके चुप हो जाते हैं, दिनकर ने पुरुरवा-उर्वशी के रूप में सामान्य नर-नारी के अन्तर्मन की गहराइयों उतरने का प्रयास किया है।

---

१. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (च).

उनका कथन है -

> "प्रश्नों के उत्तर, रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते हैं।"

कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है, केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।"[१]

१. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (ख).

अध्याय

७

शिल्प-योजना

मधुर एवं रसपूर्ण कृति होने के साथ उर्वशी शिल्प की दृष्टि से भी बहुत ऊँचे स्तर की है। किसी श्रेष्ठ कृति में वर्ण्य विषय की एकसूत्रता उत्कृष्ट कोटि की रसानुकूल शिष्ट भाषा, व्यवस्थित छन्द, सुन्दर-सहज अलंकार-विधान आदि विशेष गुण उसे अधिक कलात्मक बना देते हैं।

'उर्वशी' का वर्ण्य विषय है राजा पुरूरवा तथा उर्वशी का वेद पुराणादि में वर्णित प्रेम। यह कथा भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में बिखरी पड़ी है। इनमें नाम और घटनाओं आदि में भी काफी भेद है। कविवर कालिदास ने अवश्य इसे सुसम्बद्ध रूप से नाट्य रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु दिनकरजी ने प्राचीन प्रेम-कथा को प्रतीक रूप में ग्रहण कर आधुनिक युग के,- अथवा एक शाश्वत मानव प्रवृत्ति के, सन्दर्भ में - काव्य-रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने बिखरी हुई बातों को इस प्रकार समन्वित किया है कि कहीं जोड़ दिखाई नहीं पड़ता और यह एक सम्पूर्ण प्रभाव मन पर छोड़ती है।

नाट्य शैली का निर्वाह भी बड़े संगठित ढंग से हुआ है। कथा में नाटक की पाँचों कार्यावस्थाओं का भी निर्वाह हुआ है। ये कार्यावस्थाएँ हैं - प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम।

प्रथम अंक में सहजन्या अब उर्वशी के अपहरण की कथा सुनाती है, वहीं से प्रारम्भ होता है। चित्रलेखा का उसी उर्वशी को फूलों में छिपा कर

राजोद्यान में छोड़कर आना कथा को अग्रसर करने का प्रयत्न है।

तृतीय अंक में युगल प्रेमियों के अभिसार के साथ उद्देश्य प्राप्ति का-सा भ्रम होता है किन्तु अभिसार निमग्न होते हुए भी पुरुरवा का चित्त उद्विग्न है। बार-बार उसकी आत्मा उसे विरक्ति की ओर ले जाना चाहती है। इसी में अन्तिम अवस्था वियोग और विरक्ति का संकेत मिलता है, अतः इसे प्राप्त्याशा कह सकते हैं।

उर्वशी तथा सुकन्या के बीच भरत-शाप तथा भावी वियोग की चर्चा नियताप्ति है, उर्वशी के पुत्रजन्म के पश्चात् वियोग अवश्यम्भावी होता है।

अन्तिम अंक में राजा जैसे ही पुत्र का मुख देखते हैं उर्वशी अन्तर्धान हो जाती है। प्राणप्रिया उर्वशी से वियुक्त होकर पुरुरवा को क्रोध हो उठता है वे युद्ध के लिए तत्पर होने लगते हैं कि फिर उन्हें वही अन्तरात्मा प्रबुद्ध करती है और अन्त में राजा कुमार आयु को अभिषिक्त करके प्रव्रजित हो जाते हैं और कथा का उद्देश्य पूर्ण होता है।

उर्वशी काव्य की भाषा संस्कृतनिष्ठ है खड़ी बोली है जो कि विषय के अनुरूप ही है। कहीं-कहीं उर्दू-फारसी, ब्रजभाषा के शब्द भी आ गये हैं। इस कृति में भाषा के शिष्टता, स्पष्टता, रसानुकूलता, माधुर्य, प्रभावोत्पादकता, अलंकारिकता जैसे गुण विद्यमान हैं।

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि दिनकरजी का हिन्दी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी भारती उनके हृदय में विराजित है, यही कारण है कि कहीं भी भाषा में शैथिल्य दृष्टिगोचर नहीं होता। तत्सम शब्दों से पुष्ट अवसरानुकूल भाषा उनकी लेखनी से सहज ही निसृत हुई है।"[१]

---

१. महाकवि दिनकर; उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ - विमलकुमार जैन, पृष्ठ-२४२.

उर्वशी काव्य में सर्वत्र व्यास शैली का ही प्रयोग हुआ है। भाषा में सामासिकता के दर्शन कहीं-कहीं ही दृष्टिगोचर होती है। यथा -

क्वणन-क्वणन-स्वन कैसा ? (पृष्ठ ६)
सागर-आत्मजा, सिन्धु-सी ही असीम उच्छल है (पृष्ठ १५)
सुख-संसार-लता-सी (पृष्ठ ३१)
पूर्णिमा-सिन्धु की परमोज्ज्वल आभा-तरंग (पृष्ठ ६५)

भाषा में विषयानुकूलता भी है और शिष्टता भी। उर्वशी की कथा वेद, उपनिषदों आदि में बिखरी पड़ी है बाद में संस्कृत में कालिदास ने इस विषय पर नाटक लिखा है। दिनकर ने भी इस प्राचीन विषय के लिए संस्कृत-निष्ठ भाषा का प्रयोग किया है। प्रवाल, शिंजनी, शोणित, वैश्वानर, स्यन्दन आदि शब्दों का प्रयोग इसी बात का द्योतक है। प्रत्येक पात्र भी अपनी मर्यादा और परिस्थिति के अनुरूप ही शब्दों का प्रयोग करता है। पुरुरवा सुकन्या से बड़ी शिष्ट भाषा में कुशल पूछते हैं -

इलापुत्र मैं पुरु ! पदों में नमस्कार करता हूं,
देवि ! तपस्या तो महर्षि सत्तम की वर्धमती है ?
आश्रम-वास, अविघ्न, कुशल तो है अरण्य गुरुकुल में ?[1]

औशीनरी उर्वशी के प्रति जो गणिका-व्याधिनी आदि शब्दों का,प्रयोग करती है वे उसकी निराशा और स्वाभाविक ईर्ष्या के परिचायक हैं किन्तु वह पति के लिए कभी भी कोई अपशब्द नहीं कहती।

अप्सराओं के वार्तालाप में भाषा का माधुर्य द्रष्टव्य है। प्रायः सखी या मित्र आपस में अरी - तू आदि सम्बोधनों का प्रयोग करते हैं -

---

१. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १८७.

साधु ! साधु । मेनके ! तुम्हारा भी मन कहीं फंसा है ?

..

अरी, ठीक, तूने सहजन्ये ! अच्छी याद दिलायी,

चतुर्थ अंक में उर्वशी और चित्रलेखा का वार्तालाप भी बड़ा मधुर और विनोदपूर्ण है।

उर्वशी एक रसप्रधान रचना है। इसकी भाषा भी सर्वत्र रसानुकूल ही है। वीर रसात्मक उक्तियाँ ओज गुण से सम्पन्न हैं -

मर्त्य - मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं
उर्वशी !, अपने समय का सूर्य हूँ मैं।
अंध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादलों के सीस पर स्यन्दन चलाता हूँ।[1]

इसी प्रकार उर्वशी के अन्तर्धान होने पर राजा के क्रोध की इन शब्दों में बड़ी ही सुन्दर व्यन्जना हुई है -

कहाँ छिपा रखेंगे सुर मेरी प्रेयसी प्रिया को ?
रत्नवान् की कनक-कन्दरा में ? तो उस पर्वत को
स्वर्ण-धूलि बन वसुन्धरा पर आज बरस आना है,
छिन्न-भिन्न होकर मनुष्य के प्रलय-दीप्त बाणों से।[2]

इन पंक्तियों में शब्दों की ध्वन्यात्मकता ने क्रोध को अधिक तीव्रता से ध्वनित किया है।

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ५२.
२. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १५५.

औशीनरी की निराशापूर्ण उक्तियाँ भी कितनी मार्मिक हैं -

पगली कौन व्यथा है जिसको नारी नहीं सहेगी,

दुःख-दर्द जताओ नहीं,
मन की व्यथा गाओ नहीं,
नारी ! उठे जो हूक मन में, जीभ पर लाओ नहीं ।[१]

श्रृंगार विधायक उक्तियाँ भी बड़ी मधुर एवं हृदय को वेष्ठित करने वाली हैं । काव्य के प्रारम्भ में नटी सूत्रधार के वचन माधुर्य गुण से सम्पन्न हैं । उनमें वातावरण की मादकता बड़े सफल रूप से अंकित हुई है ।

प्रिय के गूढ़ आलिंगन में बंधी उर्वशी का यह कथन कितना श्रृंगारिक तथा आवेशपूर्ण है -

कसे रहो, बस, इसी भाँति, उत्पीड़क आलिंगन में,
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से ।

किन्तु,आह ! यों नहीं; तनिक तो शिथिल करो बाँहों को
निष्पेषित मत करो, यदपि इस मधु-निष्पेषण में भी
मर्मान्तक है शान्ति और आनन्द एक दारुण है ।[२]

सुन्दर-मादक प्रकृति-चित्रण ने वातावरण को और भी सजीव बना दिया है यही है भाषा की प्रभावोत्पादकता कि यह कवि के मानस चित्रों को शब्दों में उतार कर पाठक को भी अभिभूत करती रहती है ।

ये तो हुए भाषा का स्वाभाविक सौन्दर्य बढ़ाने वाले गुण । इसके अतिरिक्त भाषा की आलंकारिकता भी काव्य के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देती है ।

---

१. उर्वशी - अंक २, पृष्ठ ७०. २. उर्वशी - अंक, पृष्ठ ६५.

अलंकारों की यह विशेषता है कि वे स्वाभाविक रूप से नियुत होने चाहिये। अप्रयत्न अलंकार ओढ़ने से वे काव्य पर बोझ बन जाते हैं और पाठक रसानुभूति से अलग हट कर चमत्कार में उलझकर रह जाता है।

उर्वशी में अलंकारों की योजना बहुत भव्य है इसकी शैली में छायावादी प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। दिनकर को छायावाद की अति काल्पनिकता, अति वायवीयता नापसन्द थी किन्तु भाषा की कोमलता नवीन अलंकार योजना मुक्त छन्द आदि गुण उन्हें प्रिय भी थे। उर्वशी में प्राचीन शैली के अलंकारों के साथ-साथ छायावादी शैली के विरोधाभास, मानवीकरण आदि की भी बड़ी सुन्दर योजना हुई है। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं -

अनुप्रास -

कल्पद्रुम के कुसुम या कि ये परियों की आँखें हैं (पृष्ठ ६६)

उपमा -

लाल-लाल वे चरण कमल-से, कुंकुम-से, जावक-से (पृष्ठ २४)

उत्प्रेक्षा -

प्रकटी जब उर्वशी चाँदनी में द्रुम की छाया से
लगा, सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो (पृष्ठ ३०)

रूपक -

मैं मनोदेश की वायु व्यग्र, व्याकुल, चंचल;
अवचेत प्राण की प्रभा, चेतना के जल में,
मैं रूप-रंग-रस-गंध-पूर्ण साकार कमल। (पृष्ठ ६४)

सन्देह -

फूलों की सखियाँ हैं या ये विधु की प्रेयसियाँ हैं? (पृष्ठ ७)

चन्द्रप्रभा-निर्मित हिमकण ये चमक रहे शाद्वल में ?
या नभ के रंध्रों में सित पारावत बैठ गये हैं ? (पृष्ठ ६६)

मानवीकरण -
पर, देखो तो, खिला-खिला दर्पण शशांक यह कैसे
सब के मन का भेद गुप्तचर सा पढ़ता जाता है। (पृष्ठ ६७)

विरोधाभास -
निष्पेषित मत करो, यद्यपि, इस मधु निष्पेषण में भी
मर्मान्तक है शान्ति और आनन्द एक दारुण है (पृष्ठ ६५)

और भी अनेक अलंकार हैं जिन्होंने काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि की है किन्तु हम विस्तार भय से उन सबका उल्लेख नहीं कर रहे। उपमा, उत्प्रेक्षा तो कवि को बहुत प्रिय दीखते हैं। एक से तो जैसे उन्हें सन्तोष नहीं अतः भावों की अभिव्यक्ति के लिए वे उत्प्रेक्षाओं की लड़ी सी बाँधते चलते हैं। जहाँ कहीं अलंकार भी भावों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो गये हैं वहाँ कवि ने प्रतीकों का सहारा लिया है। यहाँ भावों की गहनता के साथ भाषा भी सांकेतिक होती जाती है -

किस समाधि का शिखर, चेतना जिस पर ठहर गई है ?
उड़ता हुआ विहग अम्बर में स्थिर-समान लगता है।
यह कैसी माधुरी ? कौन स्वर लय में गूँज रहा है,
त्वचा-जाल पर, रक्त-शिराओं में, अन्तर में ?
ये ऊर्मियाँ ! अशब्द नाद ! उफ री-वैखरी गिरा की
होगी कोई शब्द ? कहूँ क्या कह कर इस महिमा को ?

(पृष्ठ ७४)

प्रश्नालंकार का प्रचलन अंग्रेजी साहित्य में ही है किन्तु दिनकर जी

ने अपने काव्य में इस अलंकार का प्रयोग करके इसे और अधिक मनोरम बना लिया है -

कौन पुरुष तुम ?

और कौन मैं ? (पृष्ठ ७४)

आधुनिक हिन्दी साहित्य में बिम्बों को श्रेष्ठ कविता की कसौटी माना जाता है। आचार्य शुक्ल ने भी लिखा है -

'कविता में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता बिम्ब ग्रहण भी अपेक्षित है'।[१]

डा. नगेन्द्र ने भी अपनी काव्य बिम्बों के बारे में विस्तार से लिखा है। वे लिखते हैं कि -

'काव्य-बिम्ब शब्दार्थ को माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।'[२]

बिम्ब की सफलता सहृदय-चित्त में संवेदनों को उद्बुद्ध करने की क्षमता पर निर्भर करती है। ये बिम्ब चाक्षुष और भावात्मक सभी प्रकार के होते हैं। कविता जब पाठक की नजरों में चित्र उतारती चलती है उन्हें चाक्षुष बिम्ब कहते हैं और सूक्ष्म संवेदनात्मक बिम्ब पाठक को रस-निमग्न करते रहते हैं। बिम्बों की दृष्टि से उर्वशी अत्यन्त समृद्ध है। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं -

---

१. चिन्तामणि - भाग १, पृष्ठ १६८.- रामचन्द्र शुक्ल.

२. काव्य बिम्ब - डा. नगेन्द्र, पृष्ठ -

चाक्षुष बिम्ब -

नगपति के उत्तुंग, समुज्ज्वल हिमभूषित श्रृंगों पर
कौन नयी उज्ज्वलता की तूली सी फेर रहा है ?
कुछ शृंगों के हरित मौलि पर, कुछ पत्तों से छनकर
छाँह देख नीचे शशांक की किरणें लेट गई हैं
ओढ़े धूप छाँह की जाली अपनी ही निर्मिति की ।
खड़ा है, निष्कम्प, मौन सारे वन वृक्ष खड़े हों
पीताम्बर उष्णीष बाँधकर छायातप - कुट्टिम पर ।
दमक रही कर्पूर-धूलि दिग्वधुओं के आनन पर;
रजनी के अंगों पर कोई चन्दन लेप रहा है ।[१]

सूक्ष्म संवेदनात्मक बिम्ब -

भरी चुम्बनों की फुहार, कंपित प्रमोद की अति से
जाग उठी हूँ मैं निद्रा से जगी हुई लतिका-सी ।
प्रथम-प्रथम ही सुना नाद उद्गम पर बजते जल का,
प्रथम-प्रथम ही आदि उषा की द्युति में भींग रही हूं ।[२]

अब उर्वशी की गीतात्मकता पर विचार करना चाहिये । उर्वशी नाट्य शैली में लिखा हुआ काव्य है, इसके संवाद पद्यात्मक हैं, इसके छन्द सर्वत्र तुकान्त नहीं हैं किन्तु मात्राओं का बन्धन अवश्य है और ये गीति की लय में बंधे हैं । वैसे गीतिकाव्य की विशेषता गेयात्मकता मानी जाती है लेकिन लघु गीतों और गीति काव्य में अन्तर है । लघु गीत में संगीतात्मकता होने के साथ स्वर ताल आदि की भी योजना होती है लेकिन गीति काव्य में सामान्यतः लय की संगीतात्मकता ही प्रधान होती है ।

---

१. उर्वशी-अंक ३, पृष्ठ ६५-६६.
२. उर्वशी-अंक ३, पृष्ठ ७५.

श्रीमती महादेवी वर्मा ने कहा है - ' सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेषकर, गिने चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है '। इस प्रकार की विशेषता से युक्त गीत लघु ही हो सकते हैं। प्रबन्ध काव्य में गीतात्मकता होती है किन्तु उसे गीत नहीं कहा जा सकता। उर्वशी के संवाद गीतात्मक हैं किन्तु भाव संवेगों की गहन अभिव्यक्ति के लिए कहीं-कहीं दिनकर जी ने लघुगीत का भी प्रयोग किया है। जैसे प्रथम अंक में अप्सराओं का समवेत गान है जो उनके आनन्दोल्लास को व्यक्त करता है -

फूलों की नाव बहाओ री, यह रात रुपहली आई
फूटी सुधा-सलिल की धारा,
डूबा नभ का कूल किनारा,
सजल चाँदनी की सुमन्द लहरों में तैर नहाओ री
यह रात रुपहली आई।[1]

कुछ गीतों के अतिरिक्त दिनकरजी ने उर्वशी में लय और गीति से युक्त मुक्त छंद का भी प्रयोग किया है। इससे तीव्र भावावेग को अभिव्यक्त करने में बहुत सहायता मिली है -

और फिर यह सोचने लगता, कहाँ, किस लोक में हूँ?
कौन है यह वन सघन हरियालियों का,
झूमते फूलों लचकती डालियों का?
कौन है यह देश जिसकी स्वामिनी मुझको निरन्तर
वारुणी की धार से नहला रही है?[2]

---

१. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ ८.
२. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ५२.

इन पंक्तियों में स्वर-ताल की सुदृढ़ता नहीं किन्तु लय का ऐसा प्रवाह है कि सहृदय की एकतानता भंग नहीं होती बल्कि बीच में इस प्रकार के परिवर्तन से उसे कुछ अधिक आनन्द-सा प्राप्त होता है। नाट्य शैली का गीतात्मक प्रयोग होने से इस नाट्य प्रबन्ध में मणिकांचन-संयोग हो गया है।

इतने सब गुणों से युक्त होने पर अगर किसी कृति में कुछ दोष होते हैं तो उन्हें नगण्य ही माना जायेगा। उर्वशी में भी कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ प्रयत्न करने पर भाषा-व्याकरण-लिंग सम्बन्धी दोष ढूंढे जा सकते हैं। कथा-प्रवाह की गति भी सर्वत्र एक सी नहीं है फिर भी कथा की शृंखला नहीं टूटती। तीसरा अंक घटनाप्रधान न होकर भाव तथा चिन्तनप्रधान है, किन्तु रसात्मकता का हनन कहीं नहीं होता। वास्तव में उर्वशी के माधुर्य एवं कलात्मकता के सम्मुख ये दोष नगण्य हैं।

ooooo
ooo
o

अध्याय ८

मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण

'उर्वशी' में दिनकरजी ने ऐतिहासिक कथा का आधार लेकर पुरुरवा उर्वशी के रूप में नर-नारी की शाश्वत वृत्तियों का चित्रण किया है। प्रसादजी ने 'कामायनी' में मनु-श्रद्धा-इड़ा के रूप में जीवन के कर्तव्य पक्ष का आख्यान प्रस्तुत किया है और दिनकर ने उर्वशी-पुरुरवा के रूप में जीवन के भावना पक्ष का। वे लिखते हैं - " इस दृष्टि से मनु और इड़ा तथा पुरुरवा और उर्वशी, ये दोनों ही कथाएँ एक ही विषय को व्यंजित करती हैं। सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरुरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है।

किन्तु इस कथा को लेने में वैदिक आख्यान की पुनरावृत्ति अथवा वैदिक प्रसंग का प्रत्यावर्तन मेरा ध्येय नहीं रहा। मेरी दृष्टि में पुरुरवा : सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।"[१]

प्रतीक रूप से ऐतिहासिक पात्रों को ग्रहण करने में कवि का मन्तव्य अनुभूतियों की चिरन्तनता पर आधृत रहता है। केवल इतिवृत्त का सत्य खोजना इतिहास का काम है। साहित्य तो उन इतिवृत्तों का संचालन करने वाली अनुभूतियों की खोज करता है। जयशंकर प्रसाद लिखते हैं - " आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथि क्रम मात्र से सन्तुष्ट न होकर मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है ? आत्मा की

---

१. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (ख).

अनुभूति ? हां, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएं स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।"[१]

इतिहास और साहित्य में यही भेद है। यूनानी दार्शनिक अरस्तू का काव्य-सत्य के बारे में कहना है कि काव्य का सत्य इतिहास के सत्य से महान होता है। कवि सार्वभौम सत्य का चित्रण करता है जबकि इतिहासकार सीमित अथवा विशिष्ट का। कविता इतिहास से अधिक दार्शनिक एवं उच्चतर वस्तु है।

हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि कवि लोग इस सार्वभौम सत्य-रूप अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के हेतु अधिकांश रूप से इतिहास से ही क्यों तथ्य ग्रहण करते हैं ? इसके कारण कई हो सकते हैं। ऐतिहासिक कथा व पात्रों के सहारे कवि की रचना अधिक प्रभावशील हो सकती है। यदि कवि भक्त भी है तो वह अपने आराध्य का ही गुणगान करता है। आराध्य-रूप में हमारे यहां राम और कृष्ण विशेष रूप से जनमानस में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। अतः भक्ति के आलम्बन रूप में राम-कृष्ण का ही चरित्र व लीला गान हुआ है। यहां तक कि रीतिकालीन कवियों को भी अपने लौकिक चित्रण के लिये नायक-नायिका रूप में राधा-कृष्ण का ही नाम ग्रहण करना पड़ा। प्रेम गाथा की रचना करने वाले कवियों ने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना का सहारा लेकर अपनी अनुभूतियों को काव्य-रूप दिया। जायसी का 'पद्मावत' इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों की कथाएं भी पूर्णतया काल्पनिक होते हुए भी जनमानस को प्रभावित करती रही हैं तभी वे काव्य-रूप में भी पाठक को प्रभावित करने में सफल हो सकी हैं।

---

१. कामायनी - आमुख, पृष्ठ ५.

आधुनिक युग में भी 'कामायनी' इस प्रवृत्ति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। मनु, श्रद्धा, इड़ा पौराणिया ऐतिहासिक पात्र हैं। मनु तो मानव जाति के आदि पुरुष हैं। प्रसाद ने सृष्टि-विकास का एक रूपक लेकर उसका मानसिक-भावात्मक रूप काव्य में प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक होते हुए भी कामायनी युग संदर्भों से असम्पृक्त नहीं है। प्रसाद ने आज की यांत्रिक सभ्यता के युग में हृदय पक्ष के महत्व की स्थापना की है।

इस प्रकार ऐतिहासिक अथवा प्रख्यात इतिवृत्त के सहारे कवि अपनी मान्यताएँ स्थापित करने में अधिक सफलताएँ प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि कवि दिनकर ने भी पौराणिक आख्यान लेकर नर-नारी की भावनाओं-कामनाओं का चित्रण किया है। नई कविता के युग में, अनास्था, असन्तोष, विकृति, घुटन, क्षोभ, विघटन के वातावरण में 'उर्वशी' रूप में इसका चित्रण स्वयम् ही इसकी सार्थकता को प्रमाणित करता है। दिनकरजी स्वयम् लिखते हैं -

कहने भर को प्राचीन कथा,
पर इस कविता की मर्म-व्यथा
आज के विह्वल हृदय की है
सबकी सब इसी समय की है।

जब भी अतीत में जाता हूँ
मुर्दों को नहीं जिलाता हूँ
पी के छट कर फेंकता बाँण,
जिससे हो कम्पित वर्तमान। [१]

उर्वशी एक चरित्रप्रधान नाट्य काव्य ही नहीं अपितु भावनाप्रधान काव्य है अतः इसके पात्रों का चरित्रांकन करते समय हमें कवि का मन्तव्य, पात्रों

---

१. कुरुक्षेत्र - पृष्ठ ५८.

का ऐतिहासिक रूप भी ध्यान में रखना होगा अन्यथा हम पात्रों का सही अंकन न कर सकेंगे ।

उर्वशी में अनेक स्त्री-पुरुष पात्रों का अंकन है, इनमें मुख्य हैं - पुरूरवा, उर्वशी, औशीनरी - जिनके त्रिकोण में कथा का विकास हुआ है ।

पुरूरवा

पुरूरवा 'उर्वशी' काव्य के नायक हैं । वे बड़े वीर हैं और परम सुन्दर हैं । पुरूरवा को पुराणों में बुध का पुत्र माना गया है । उनके रूप-गुण का वर्णन पुराणों में लगभग समान रूप से हुआ है । वे परम तेजस्वी, दानी, यज्ञिक, ब्रह्मवादी, शत्रुओं के लिए युद्ध में दुर्जेय, सत्यवादी, पुण्यमतिवाले, संयत आचार वाले एवं तीनों लोकों में अपूर्व यश वाले हैं ।[1]

---

१. बुधस्य तु मुनिश्रेष्ठो विद्वान् पुत्रः पुरूरवा ।
तेजस्वी दानशीलश्च यज्वा विपुल दक्षिणः ॥
ब्रह्मवादी पराक्रान्तः शत्रुभिर्युधि दुर्दमः ।
आहर्ता चाग्निहोत्रस्य यज्वानाञ्च महीपतिः ॥
सत्यवादी पुण्यमतिः सम्यक् संवृत मैथुनः ।
अतीव त्रिषु लोकेषु यशसाप्रतिमः सदा ॥

ब्रह्मपुराण, अ० १०, श्लोक १-३.
उद्धृत - (दिनकर; उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ)
विमलकुमार जैन, पृष्ठ २६५.)

उर्वशी में दिनकर ने उनका चित्रण पौराणिक आधार पर किया है।

कार्तिकेय-सम शूर, देवताओं के गुरु सम ज्ञानी,
रवि-सम तेजवन्त, सुरपति के सदृश प्रतापी, मानी;
धनद-सदृश संग्रही, व्योमवत् मुक्त, जलद-निभ त्यागी,
कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज्ञ, कुसुमायुध से अनुरागी।

इन पंक्तियों में दिनकरजी ने पुरूरवा को सभी उच्च, आदर्श गुणों से सम्पन्न चित्रित किया है। पुरूरवा में जहाँ एक ओर वीरता, मान और तेज अपने पूर्ण उत्कर्ष पर है वहीं ज्ञान, त्याग, अनुराग भी हैं। वे श्रीमद ऐश्वर्यशाली होते हुए भी व्योम के समान मुक्त हैं।

इतना सब होने पर भी पुरूरवा ने कभी किसी अन्य राजा की सम्पत्ति अथवा स्वातन्त्र्य का अपहरण नहीं किया। उन्हें सभी सिद्धियाँ स्वयमेव ही प्राप्त होती रही हैं। उनकी राज्य-सीमा स्वतः ही उनके प्रताप से बढ़ती जाती है। वे युद्ध अथवा अन्याय से कभी अपनी सीमा-विस्तार नहीं करते। उनकी वीरता का यश सुरपुर तक में व्याप्त है। पुरूरवा पराक्रमी होने के साथ-साथ दयावान भी है। उर्वशी को जब एक दैत्य अपहृत करके ले जाने लगा तो उसकी सखियों की आर्त पुकार सुनते ही वे उर्वशी की रक्षा हेतु दौड़ पड़ते हैं। राजा के इन्हीं गुणों के कारण उर्वशी उन पर मुग्ध हो जाती है। पुरूरवा भी उर्वशी के प्रति आसक्त हो जाते हैं।

शास्त्रीय ढंग से विचार करने पर हमें पुरूरवा के चरित्र में धीरललित एवं धीरोद्धत दोनों ही प्रकार के नायकों के गुण मिलते हैं॥ दिनकर ने उनको कामदेव के समान अनुरागी लिखा है। प्रथम वे उर्वशी के सौन्दर्य पर ही मुग्ध होते हैं किन्तु वही आकर्षण धीरे-धीरे प्रगाढ़ प्रेम का रूप धारण कर लेता है। फिर भी आत्मसम्मान उनकी विशेषता है। उर्वशी जब उनसे शिकायत करती है कि मैं तुम्हारे हृदय की पुकार पर आ तो गई किन्तु इस आने

में वह आनन्द कहाँ जो उन रमणियों को प्राप्त होता है जो किसी वीर पुरुष की विक्रम-तरंग पर चढ़कर आती हैं। तुम मुझे सुरपति से माँगने में असमर्थ समझते थे तो अपहरण करके ला सकते थे किन्तु भीख माँगना या अपहरण करना पार्थिवों का कार्य नहीं। पुरुरवा यही कहते हैं कि मैं तुम्हें भीख माँगकर नहीं लाना चाहता था क्योंकि तुम्हारे हृदय के कपाट भीख मांगने से नहीं खुलते। हरण करना भी अशमूल कर्म था। राजा को ईश्वर की महान शक्ति पर पूर्ण आस्था है। उसी की कृपा से वे पूर्णतः सम्पन्न हैं। फिर यदि उर्वशी के प्रति उनकी प्रीति सच्ची है तो वह भी उन्हें अवश्य प्राप्त होगी ही। इस आस्था से राजा की अकर्मण्यता जाहिर नहीं होती बल्कि उनका स्वाभिमान और चमक उठता है। वे आसक्ति की पवित्रता के लिए भी अनासक्ति को आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि मैं भी मनुष्य हूं, मेरे हृदय में भी कामना-वायु चलती है कभी मन्द गति से पुलक जगाकर, कभी कामना की वायु झंझा की गति से भी उठती है किन्तु वीर पुरुष कभी हार नहीं मानते। जब आसक्तियाँ हमें पूर्णतया डुबोना चाहती हैं तो भी हम कमलवत् उनसे ऊपर उठे रहते हैं, क्योंकि -

> नहीं इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है,
> उसका किंचित् स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है।[१]

उर्वशी जब राजा से मिलने के लिए स्वयम् ही आ जाती है तो पुरुरवा एक बार तो अधीर होकर उसे झपटकर बाहु-पाश में बाँध लेते हैं किन्तु धीरे-धीरे उनकी अनासक्ति फिर सजग हो उठती है। वे बार-बार यही सोचते हैं कि -

---

१. उर्वशी- अंक ३, पृष्ठ ४६.

रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को,
घूँट या दो घूँट पीते ही
न जाने, किस अतल से नाद यह आता,

अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।[1]

किन्तु फिर जब विचार करते हैं तो यही समझ में आता है कि रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन ही तो है। स्नेह का सौन्दर्य को उपहार रस-चुम्बन ही तो है।

यही तो एक चिरन्तन प्रश्न है जो कि मनुष्य को द्वन्द्व में भटकाता रहता है। कभी उसे रूप का आकर्षण मदमत्त कर डालता है और कभी वह विरक्त होकर कल्पनाओं के आकाश में विचरने लगता है किन्तु मिट्टी का मानव आखिर शून्य में कब तक ठहर सकता है। मिट्टी ही उसकी गति है। आखिर आकांक्षित अनाकांक्षित पर विजय पा लेती है। उर्वशी का रूप-स्नेह का आकर्षण राजा को मदहोश कर देता है। फिर वे कहते हैं कि मैं इतना वीर होकर भी फूलों की लड़ी से बँध गया हूं -

टूटता तोड़े नहीं, यह किसलयों का दाम,
फूलों की लड़ी जो बँध गई, खुलती नहीं है।

सिन्धु-सा उद्दाम, अपरम्पार मेरा बल कहाँ है ?
गूँजता जिस शक्ति का सर्वत्र जय जयकार,
उस अटल संकल्प का सम्बल कहाँ है ?

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ४८.

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी ! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।
अंध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादलों के शीश पर स्यन्दन चलाता हूँ।

पर न जाने बात क्या है ?
इन्द्र का आयुध का पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बाँहें मिलाकर खेल सकता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता।[१]

पुरूरवा सामान्य मानव की भाँति रूप-सौन्दर्य के आगे पराजित हो जाते हैं। देवत्व की कामना बार-बार उन्हें ऊपर उठाने का प्रयत्न करती है किन्तु प्रेम की दाहकता उन्हें शीतलता प्राप्त नहीं करने देती। यही आग मनुष्य की चिर संगिनी है। उर्वशी कहती है कि 'यही वह्नि है जो मुझे स्वर्ग से तुम तक खींच लाई है क्योंकि देवता के मन में द्वन्द्व नहीं होता - कामनाएँ नहीं होतीं और न ही यह पावक होता है। किन्तु यही पावक है जो मनुष्य को देवताओं से भी श्रेष्ठ बना देता है।'

पुरूरवा जब उर्वशी से मिलते हैं तो प्रारम्भ में अपनी विरहावस्था का वर्णन करते हैं कि तुम्हारे बिना मुझे बहुत वेदना सहनी पड़ी। शरीर से तो मैं यहाँ था किन्तु मेरा हृदय सदा तुम्हारे ही पास रहता था। तुम्हारा ध्यान आते ही मन में चाँदनी छा जाती थी और चुम्बन की कल्पना अंगों में सिहरन उठाती थी। प्रकृति में चतुर्दिक मुझे बस यही तुम्हारा मुस्कराता आनन दिखाई देता था।

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ५३.

पुरूरवा का प्रेम केवल कायिक नहीं है। वे उर्वशी को आलिंगित किये हुए किसी चिन्तन में डूब जाते हैं। चिन्तनलीन होकर उनका मन उस निरभ्र आकाश में विहरने लगता है जहाँ उन्हें चारों ओर अपनी प्रिया की स्निग्ध आभा फैली दिखाई देती है। वे तन का अतिक्रमण करके धीरे-धीरे ऐसी गहन समाधि में लीन होने लगते हैं जहां प्रेम अवचेतन के नये द्वार खोलता जाता है -

तन का अतिक्रमण यानी मांसल आवरण हटाकर
आँखों से देखना वस्तुओं के वास्तविक हृदय को,
और श्रवण करना कानों से आहट उन भावों की,
जो खुल कर बोलते नहीं, गोपन इंगित करते हैं।[१]

किन्तु यह प्रेम आप ही अपनी गति का बाधक है। भूमि की सीमा मिटा कर भी भूमि मानव को बांधे रखती है। पुरूरवा पूर्ण रूप से उर्वशी के प्रेम पाश में आबद्ध हैं। वे भौतिक प्रेम से आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करते हैं और फिर आध्यात्मिक से भौतिक जगत में। उर्वशी के साथ वे अभिसार में निमग्न हैं और उनकी परिणीता रानी औशीनरी महल में निःश्वास भरती रहती है। राजा ने औशीनरी का अपमान नहीं किया किन्तु वे अपने हृदय से लाचार हैं।

राजा को पुत्र का अभाव सदा सालता रहता है। वे पुत्र के अभाव में सदा दुखी रहते हैं अतः औशीनरी को सन्देश भेजते हैं कि मैं यहाँ गन्धमादन पर प्रभु की आराधना में लीन हूँ। यहाँ की प्रकृति सब प्रकार से सुरम्य और अनुकूल है। आप भी अब पुत्र प्राप्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना करती रहें।

पुत्र प्राप्ति के यज्ञ में पुरूरवा के साथ औशीनरी ही भाग लेती है उर्वशी नहीं। इस अवधि में उर्वशी च्यवनाश्रम में पुत्र को जन्म देती है किन्तु

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६३.

यज्ञ समाप्त होने पर उसे आश्रम में सुकन्या के पास छोड़कर पुनः पुरुरवा के पास निवास करने लगती है। दिनकर ने औशीनरी के सम्मान की पूर्ण रक्षा की है।

पुरुरवा वीर होने के साथ विनयशील भी है। कृषियों का आदर करना वे परम सौभाग्य मानते हैं। वे कृषि पत्नी सुकन्या का सब प्रकार से सत्कार करके कुशल पूछना नहीं भूलते। यह भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

पुरुरवा को स्वप्न आदि में पूर्ण विश्वास करते हैं। वे अपने स्वप्न का फल राज ज्योतिषी से पूछते हैं और अन्त में वही सत्य हो जाता है। जब सुकन्या किशोर आयु को लेकर राजसभा में उपस्थित होती है और राजा पुत्र का मुख देखते हैं तो हर्षातिरेक से मूर्च्छित से होने लगते हैं। वे प्रसन्नता के मारे विह्वल हो जाते हैं और आयु को हृदय से लगा लेते हैं उनकी आँखों में अश्रु छलक आते हैं -

> पुत्र अरे, ओ अमृत-स्पर्श ! आनन्द-कंद नयनों के !
> प्राणों के आलोक ! हाय ! तुम अब तक कहाँ छिपे थे ?[१]

पुरुरवा जहाँ एक ओर इतने कोमल हृदय हैं वहीं उर्वशी के अन्तर्धान होने पर एकदम क्रोधित होकर रौद्र रूप धारण कर लेते हैं। प्रारंभ में वे उर्वशी के लिए स्वयम् प्रतीक्षा करते रहे थे किन्तु अब वे प्रिया को प्राप्त करने के लिए देवों से भी युद्ध ठानने को तत्पर हो जाते हैं -

---

१. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १५२.

लाओ मेरा धनुष, सजाओ गगनजयी स्यन्दन को,
सखा नहीं, अब शत्रु स्वर्ग-पुर मुझे आज जाना है।
और दिखाना है, दाहकता किसकी अधिक प्रबल है,
भरत-शाप की या पुरुरवा के प्रचंड बाणों की।

कहाँ छिपा रखेंगे सुर मेरी प्रेयसी प्रिया को?
रत्न सानु की कनक कन्दरा में? तो उस पर्वत को
स्वर्ण-धूलि बन वसुन्धरा पर आज बरस जाना है,
छिन्न-भिन्न होकर मनुष्य के प्रलय-दीप्त बाणों से।[१]

उनको जब महामात्य शान्त करना चाहता है तो उसे वे कायर कहते हैं किन्तु जब नेपथ्य से उन्हें प्रारब्ध की ध्वनि सुनाई देती है तो वे जैसे सोते से जाग उठते हैं। और यह सोचने लगते हैं कि वास्तव में अब तक कामिनी के आकर्षण के भुलावे में फँसा रहा। मैंने सदा अपनी आत्मा की आवाज को भी दबाया। दैहिक सिद्धियों के आवरण में मैंने अपना ज्ञान भी खो दिया।

अन्त में वे आयु को अभिषिक्त कर सन्यास ग्रहण करते हैं। और अपने राज्य के लिए शुभाकांक्षा अर्पित करके प्रजाजनों को आशीष कह कर निष्क्रमण कर जाते हैं। वे अन्तिम समय में भी औशीनरी से कुछ नहीं बोलते। यहाँ कुछ आलोचकों को पुरुरवा के चरित्र में दोष दिखाई दे सकते हैं क्योंकि प्रिया के सामने तो पूरी तरह से प्रेमालापों में संलग्न रहते हैं और उसके अन्तर्धान होते ही फौरन सन्यास ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु मनुष्य का स्वभाव है कि जितनी गहरी चोट होती है वह उतना ही असर करती है। ऐसे ही तुलसीदास भी प्रिया के प्रेम में अन्धे हो गये थे किन्तु एक ही झटके में उनकी आँखें खुल गईं।

---

१. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १४५-१४६.

वे प्रिया के प्रति इतने बावले न हुए होते और उन्हें उसकी ताड़ना न सुननी पड़ी होती तो हिन्दी साहित्य को मानव जैसा अमूल्य रत्न मिलता या नहीं यह कौन कह सकता है ? और यहाँ पुरुरवा के विषय में तो कवि ने स्वयम् यह प्रश्न चिन्ह छोड़ दिया है कि पुरुरवा जब सन्यास लेकर चले गये तब उनका क्या हुआ ? `विक्रमोर्वशीयम्` में कालीदास ने भारतीय नाट्य परम्परा के अनुसार नाटक को सुखान्त रखा है और उर्वशी को उषा के लिए पुरुरवा के पास दिखाया है। शतपथ ब्राह्मण में पुरुरवा अन्त में यज्ञ करके गन्धर्वों को प्रसन्न करके गन्धर्व लोक प्राप्त करते हैं जहाँ कि उनका उर्वशी से फिर वियोग नहीं होता।

श्री मद्भागवत् में पुरुरवा को वैराग्य हो जाता है। उन्हें अपनी इस मोह वृत्ति पर बहुत पश्चाताप होता है और अन्त में उन्हें आत्म स्वरूप से ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है।

दिनकर ने यह नहीं लिखा कि राजा के सन्यास ग्रहण करने के पश्चात् क्या होता है ? फिर भी सन्यास के अतिरिक्त और कुछ चारा नहीं। एक बार विराग होने पर फिर बन्धनों से क्या पूछना ? इसी कारण पुरुरवा भी प्रिया से बिछुड़ने पर फिर औशीनरी से भी नहीं मिलते और निष्क्रमण कर जाते हैं।

भारतीय काव्य परम्परा में नायक को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक फल की प्राप्ति होनी चाहिये। पुरुरवा को पूर्व में तो काम की प्राप्ति होती है किन्तु बाद में वह मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रवृज्या ग्रहण करते हैं, धर्म-अर्थ तो उन्हें स्वयमेव ही प्राप्त होते रहे हैं। कामायनी में मनु को मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे समरस अखण्ड आनन्द को प्राप्त करते हैं किन्तु दिनकर जीवन की वास्तविकताओं से अधिक बँधे रहे हैं इसी कारण यह नहीं कहते कि सन्यास लेने के बाद पुरुरवा का क्या हुआ ?

उर्वशी

उर्वशी एक पौराणिक नाम है। अनेकों पुराणों में भागवत् आदि में उर्वशी की कथा लिखी हुई है। उर्वशी को नारायण ऋषि के उरु से उत्पन्न माना गया है। उसके चरित्र की दो विशेषताएँ हैं - प्रथम, तो वह अपूर्व सुन्दरी है - जिसके सामने इन्द्र की अनुपम अप्सराएँ भी फीकी हैं, दूसरे - कामना स्वरूप सब मनुष्यों के हृदय में बसी उन पर शासन करती है। नारायण ऋषि के उरु से जन्म होने की कथा यह है कि एक बार इन्द्र ने नारायण ऋषि की तपस्या में विघ्न डालने के लिए अप्सराओं को भेजा। किन्तु नारायण ऋषि पर काम का बाण न चल सका बल्कि उन्होंने अपने उरु से एक अपूर्व सुन्दरी स्त्री को जन्म दिया जो उन सब अप्सराओं से अधिक रूपवान थी। इसका भाव यह है कि नारायण ऋषि के उर में भी पहले से कामना भी बसी हुई थी, जो उन अप्सराओं को भी जीत सकती थी, उसे उन्होंने उर्वशी के रूप में निकाल बाहर कर दिया अर्थात् स्वयम् सम्पूर्ण रूप से कामना रहित हो गये। अब नारायण के उर की बसी हुई कामना बाहर आने पर नर के उर में बस गई। जो नर उस कामना (उर्वशी) के वश में नहीं होता वही नारायण (मुक्त) हो जाता है। पुर - उर - वा — पुर अर्थात् नगर। यह शरीर एक नगर के समान है। नाना प्रकार की कामनाएँ उसके उर अर्थात् हृदय प्रदेश पर शासन करती हैं और नर - उस शरीर में निवास करने वाला जीव - कामना के वशीभूत होकर भटकता फिरता है।

पुराणों में उर्वशी का चरित्र स्वर्णिमूर्ण अंकित हुआ है। भागवत् में ऐसी कथा है कि - 'एक बार अर्जुन पर भी वह कामासक्त हो गई थी किन्तु अर्जुन उसके वश में नहीं आया, उल्टे उसे फटकार दिया जिससे उर्वशी ने उसे हीजड़ा होने का शाप दिया और अर्जुन ब्रह्मचर्य हो गया था।' वह इसी प्रकार पुरुरवा के रूप पर मुग्ध होकर उसके साथ कामोपभोग करना चाहती है और

राजा भी उस पर मोहित हो जाता है। वह राजा के सामने दो शर्तें रखती है और भोलाभाला राजा उन्हें स्वीकार कर लेता है। उर्वशी को मित्रावरुण का शाप भी था, कुछ समय के लिए पृथ्वी पर रहने का। उर्वशी की शर्त जब राजा अनजाने में तोड़ बैठता है तो वह उसे छोड़ कर चली जाती है। पुरुरवा उसके विरह में पागलों की भाँति मारा-मारा फिरता है और अन्त में वह जब पुनः मिलती भी है तो सदा के लिए उसकी होकर नहीं रहती है।

दिनकरजी ने उर्वशी का चित्रण दो रूपों में किया है। एक तो है सूक्ष्म चरित्र - कामना की प्रतीक रूप में, दूसरा रूप प्रेमिका का है जो राजा पर मुग्ध होकर अभिसार करने हेतु मृत्युलोक में आई है। उसका लक्ष्य निर्द्वन्द्व रूप से कामोपभोग करना है।

दिनकर ने उर्वशी को सूक्ष्म रूप से चक्षु, रसना, प्राण, त्वक् और श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक माना है। मनुष्य इन्हीं कामनाओं के वशीभूत होता आया है। उर्वशी पुरुरवा से कहती है -

मैं अदेह कल्पना, मुझे तुम देह मान बैठे हो;
मैं अदृश्य, तुम दृश्य देख कर मुझको समझ रहे हो
सागर की आत्मजा मानसिक तनया नारायण की।

कब था ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्व नहीं था ?
कब आयेगा वह भविष्य जिस दिन मैं नहीं रहूँगी ?
कौन पुरुष, जिसकी समाधि में मेरी झलक नहीं है ?
कौन स्त्रिया, मैं नहीं राजती हूँ जिसके यौवन में ?
कौन लोक, कौंधती नहीं मेरी हृलादिनी जहाँ पर ?
कौन मेघ, जिसको न सेज में अपनी बना चुकी हूँ ?
कहूँ कौन सी बात और रहने दूँ कथा कहाँ की ?
मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण कथा है,
उसी भाँति निःसीम, असीमित जैसे स्वयम् प्रकृति है।

इन पंक्तियों में उर्वशी का सूक्ष्म प्रतीकात्मक चरित्र स्पष्ट हो जाता है। वह कहती है कि मैं मानवी नहीं देवी हूँ। देवों के आनन पर रहस्य का एक हल्का सा आवरण होता है जिसके हटने पर सब कुछ नग्न रूप में सामने आ जाता है और जीवन दुःसाध्य हो जाता है। उर्वशी स्वयम् रहस्य को प्रकट करना नहीं चाहती क्योंकि -

> कामना का वरदान, सभी कुछ अर्धस्पष्ट, झिलमिला है,
> स्वप्न स्वप्न से, हृदय हृदय से मिल कर सुख पाते हैं।
> यदि प्रकाश हो जाय, और जो कुछ भी छिपा वहाँ है,
> सब के सब हो जायें सामने खड़े नग्न रूपों में,
> कौन सहेगा वह भीषण आघात भेद-विघटन का ?[१]

इसी कारण पुरुरवा कहते हैं कि तुम मुझे सत्य होते हुए भी स्वप्न जान पड़ती हो। उर्वशी भी कहती है कि देह-भाव सब प्राप्ति है मैं मनोदेश में व्यग्र वायु के समान चंचल हूँ, चेतना के जल में रूप-रस गन्ध-पूर्ण कमल के समान साकार हूँ, मैं विष्णु की सुता नहीं बल्कि विश्व-पुरुष के हृदय-विष्णु की कामना-तरंगों के आलोड़न से उद्भूत हुई हूँ, मैं कामना-वह्नि की मुक्त शिखा हूँ। पवनाम्दोलित जलदों की तरंगों पर सवार होकर मैं सदा घूमती रहती हूँ। मदिरलोचना, कामचलिता नारी की सौन्दर्य-छटा में मेरा ही निवास है।

> मैं मृत, भविष्यत्, वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त;
> मैं विश्वप्रिया
> तुम पन्थ जोहते रहो,
> अचानक किसी रात मैं आऊँगी।
> अधरों में अपने अधरों की मदिरा उड़ेल,

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६१.

में तुम्हें वक्ष से लगा,
युगों की संचित तपन मिटाऊँगी ।[१]

उपरोक्त पंक्तियों में उर्वशी का पौराणिक रूप स्पष्ट हो जाता है कि वह स्वभाव से चंचल है जो कभी सदा के लिए किसी एक प्रेमी की होकर नहीं रह सकती और केवल कुछ समय के लिए राजा पुरुरवा के साथ अभिसार करती है, साथ ही इन पंक्तियों में उस कथा का संकेत भी मिलता है जब उर्वशी सरस्वती नदी के किनारे विरह-संतप्त राजा को केवल वर्ष में एक बार मिलने का आश्वासन देती है।

दिनकरजी ने अपने काव्य में उर्वशी को प्रतीक मानकर, उसको नारी रूप भी प्रदान किया है। उर्वशी इस काव्य की नायिका है। वह पुरुरवा पर मुग्ध होकर अभिसार करने पृथ्वी पर आई है अतः उसे अभिसारिका नायिका की संज्ञा दी जा सकती है। दिनकर ने उर्वशी का चरित्र मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है इस कारण से हमारे सामने से पुराणों का स्वार्थी पूर्ण उर्वशी रूप ओझल हो जाता है और हम उसे प्रेममयी नारी के रूप में देखने लगते हैं जिसमें अपने प्रेमी के प्रति अपार प्रेम भी है और पुत्र के लिए गहन ममता भी। दिनकर ने ऐतिहासिकता का निर्वाह करते हुए भी उर्वशी का चरित्र बहुत भिन्न रूप से प्रस्तुत किया है।

उर्वशी एक अपूर्व सौन्दर्यशाली अप्सरा है। राजा पुरुरवा जब उसे दैत्य के चंगुल से छुड़ाते हैं तो वह उन पर मोहित हो जाती है। उसे पुरुरवा के सौन्दर्य के साथ वीरता का गुण भी आकर्षित करता है। नारी का यह सहज स्वभाव होता है कि वह वीर पुरुष को ही वरण करना चाहती है। इसीलिए उर्वशी कहती है कि मैं स्वयम् तो सुरपुर से आ गई किन्तु इस आने में वह आनन्द कहाँ? जो किसी वीर पुरुष की विक्रम-तरंग पर चढ़कर

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ १००.

आने वाली रमणियों को मिलता है।

उर्वशी के प्रेमाभिभूत रूप का चित्रण सहजन्या के इन शब्दों में हुआ है -

इसीलिए तो सखी उर्वशी, उषा नन्दन वन की,
सुरपुर की कौमुदी, कलित कामना इन्द्र के मन की,
सिद्ध विरागी की समाधि में राग जगाने वाली,
देवों के शोणित में मधुमय आग लगाने वाली,
रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तृष्णा विश्वमय नर की,
विभु की प्राणेश्वरी, आरती-शिखा काम के कर की।

× × × ×

प्रस्तुत हैं देवता जिसे सब कुछ देकर पाने को
स्वर्ग-कुसुम वह स्वयम् विकल है वसुधा पर आने को।[१]

उर्वशी पुरुरवा से मिलने के लिए अत्यन्त विकल है। हर समय उसी के ध्यान में खोयी रहती है। दृगों से अश्रु झरते रहते हैं उसका सौन्दर्य मलिन दिखाई देने लगा है। उर्वशी की पूर्वराग-जन्य विरह की मलिनता, सन्ताप, कृशता, अरुचि, अधीरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्छा आदि काम - दशाओं का चित्रण हमें इन पंक्तियों में मिलता है।

सखी उर्वशी की कुछ दिन से है खोयी-खोयी सी,
तन से बनी, स्वप्न से मन के कुंजों में खोयी-खोयी सी,
खड़ी-खड़ी अपनी तोड़ती हुई कुसुम पंखुड़ियाँ,
किसी ध्यान में पड़ी गंवा देती घड़ियों पर घड़ियाँ।

---

१. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ १३.

दृग से झरते हुए अश्रु का ज्ञान नहीं होता है,
आया-गया कौन, इसका कुछ ध्यान नहीं होता है।
मुख सरोज मुसकान बिना आभा-विहीन लगता है,
भुवन-मोहिनी श्री का चंद्रानन मलीन लगता है।
सुनकर जिनकी झमक स्वर्ग की तंद्रा फट जाती थी,
योगी की साधना, सिद्ध की नींद उचट जाती थी,
वे नूपुर भी मौन पड़े हैं, निरानन्द सुरपुर है,
देवसभा में लहर लास्य की अब वह नहीं मधुर है।[1]

भूलोक की मानवी के समान उर्वशी के लिए भी प्रेम एक व्याकुल पीड़ा बन गया है। उर्वशी को प्रिय से मिले बिना अब कल नहीं पड़ती वह चित्रलेखा से कहती है कि अब यदि मुझे कान्त का अंक नहीं मिला तो निश्चय ही मैं यह शरीर त्याग दूँगी। आखिर चित्रलेखा उसे फूलों में छिपाकर रात्रि के एकान्त में गन्धमादन पर छोड़ आती है जहाँ बाद में उसका प्रिय से मिलन होता है।

उर्वशी के अभिसारिका रूप का वर्णन निपुणिका इस प्रकार करती है कि जब उर्वशी चाँदनी में पेड़ों की छाया से बाहर प्रकट हुई तो ऐसा लगता था मानों सर्प के मुख से कोई मणि निकली हो या चाँदनी ही स्वयम् स्वर्णप्रतिमा में ढली देह धारण कर आ प्रकट हुई हो। पुष्पों से सज्जित आवरण में से उसके अंगों की कान्ति इस प्रकार दमक रही थी जैसे ओस-कणों से युक्त झिलमिल करता कुसुम हो। पुरूरवा भी उसको देखते ही अधीर हो उठते हैं और अनेकों प्रकार से अपनी विरहावस्था का वर्णन करते हैं। वे उसका शृंगार करते नहीं थकते। पुरूरवा के प्रेम एवं विस्मय से पूर्ण ये वचन बड़े मार्मिक हैं -

---

१. उर्वशी - अंक १, पृष्ठ १५.

वाह, रूप यह ! जहाँ कहीं भी चारों ओर भुवन में
यही रूप हँसता, प्रसन्न इंगित करता मिलता है
सूर्य-चन्द्र में नक्षत्रों-फूलों में, तृणों-द्रुमों में।
और यही सुख बार-बार उग पुनः डूब जाता है
मन के अमित अगाध सिन्धु में ज्वालामयी लहर-सा।
लगता है, मानो, निकलीं तुम नहीं बाहर नहीं जलधि से,
जन्मभूमि की शीतलता में अब भी खेल रही हो।[1]

पुरूरवा कहते हैं कि जब तुम सागर की भीगी शुभ्र लहरों पर चढ़कर बाहर आई होगी तो तुम्हें गंवा कर सागर ने रुदन किया होगा और इस सदेह कुसुम को प्राप्त कर देवलोक अपार प्रसन्नता से झूम उठा होगा। तुम्हारा यह अनन्त सौन्दर्य एक तन में बंध जाने पर भी चतुर्दिक विभासित हो रहा है। इसे कितना भी अंक में भरूँ किन्तु कहीं से कोई किरण बाहर छूट जाती है।

पुरूरवा के कथन में उर्वशी के नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन बड़े मनोहारी रूप में हुआ है -

ये लोचन, जो किसी अन्य जग के नभ के दर्पण हैं;
ये कपोल, जिनकी द्युति में तैरती किरण ऊषा की
ये किस लय से अधर, नाचता जिन पर स्वयम् मदन है,
रोती है कामना जहाँ, पीड़ा पुकार करती है;
ये भृकुटियाँ जिनमें उडुओं के अश्रु-बिन्दु झरते हैं,
ये बाहें, विधु के प्रकाश की दो नवीन किरणों-सी,
और वक्ष के कुसुम-कुंज, सुरभित विश्राम-भवन ये,

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ५८.

जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रान्ति दूर करते हैं।
वह मुस्कान, विभा जैसे दूरागत किसी किरण की;
ध्यान जगा देती मन में वह किसी असीम जगत् का
जिसे चाहता तो हूँ, पर, मैंने न कभी देखा है।[1]

उर्वशी इस पृथ्वी पर रुक कर प्रेम-रस का पान करने आई है। राजा उसे बाहु-पाश में बाँधे हुए जब चिन्तनशील हो जाते हैं तो उसे बड़ी निराशा होती है। राजा की अनासक्ति देखकर वह सोचती है कि कहीं मैं देवों से विमुख होकर फिर किसी देव की ही बाहुओं में तो नहीं बँध गई। राजा कभी उर्वशी के अपार सौन्दर्य-सागर की लहरों में बहने लगते हैं तो कभी उनकी आत्मा की आवाज उन्हें प्रचेत करने लगती है। राजा का यह द्वन्द्व उर्वशी से छिपा नहीं रहता। वह राजा के चिन्तन को अपनी दार्शनिक उक्तियों से पराजित कर देती है। और पुरुरवा उसके सौन्दर्य के साथ उसके दर्शन पर भी मोहित हो जाते हैं। आत्मा की आवाज कामासक्ति के निनाद के सम्मुख धीरे-धीरे विलीन हो जाती है। उर्वशी तो अबाध रूप से काम का आनन्द प्राप्त करना चाहती है अत: वह राजा के सामने अनेकों तर्क रखती है कि -

किसने कहा तुम्हें परमेश्वर और प्रकृति, ये दोनों
साथ नहीं रहते; जिसको भी ईश्वर तक जाना है,
उसे तोड़ लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से;

× × × ×

किसने कहा तुम्हें जो नारी नर को जान चुकी है
उसके लिए अलभ्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का;

---

1. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६१.

और पुरुष जो आलिंगन में बाँध चुका रमणी को,
देश-काल को भेद गगन में उठने योग्य नहीं है ?[1]

उर्वशी काम को बन्धन नहीं मानती । वह कहती है कि मुक्ति की कामना तो बंधन से छूटने के लिए होती है किन्तु काम बंधन नहीं, वह तो एक आध्यात्म है जो प्रेमी युगल को योग के समान उच्चतम शिखर पर पहुँचा देता है । बल्कि वह तो निष्काम कामोपभोग को ही श्रेष्ठ समझती है जिसमें आनन्द के अतिरिक्त कोई लक्ष्य ही नहीं रहता । उसका कथन है कि नर-नारी परमेश्वर की बनायी एवं प्रकृति के ही अंग हैं अतः काम भी सहज और प्राकृतिक है । उससे भाग पाना असम्भव सा ही है । वही नर-नारी मुक्त हैं जो सहज होकर प्रकृति की इस धारा में बहते हैं और उनका ध्येय भी केवल बहते रहना ही होता है । मानव जितना जिज्ञासु होता है उतना ही कठिनाइयों में फंसता जाता है क्योंकि प्रकृति में कहीं भी द्वन्द्व नहीं है बल्कि मनुष्य ने स्वयम् कल्पनाओं द्वारा इन द्वन्द्वों की रचना की है ।

उर्वशी का प्रेम तन को भेद कर आत्मा के उस धरातल तक पहुँचना चाहता है जहाँ शरीर का सुख निरर्थक-सा होकर केवल उसका एक साधन बन जाता है क्योंकि रसावेश की स्थिति में मन-आत्मा सब लुप्त हो जाते हैं - उसका कथन है कि -

किन्तु, कभी क्या रसावेश में कोई जा सकता है,
बिना सहज एकाग्र वृत्ति के, मात्र हाँक कर तन को ?
मांस-पेशियाँ नहीं जानतीं आनन्दों के रस को,
उसे जानती स्नायु, भोगता उसे हमारा मन है ।[2]

---

१. उर्वशी -, अंक ३, पृष्ठ ७७.
२. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ८५.

शरीर-मन-आत्मा के एक तान हो जाने पर हृदय-कमल विकसित हो जाता है और मधु की धार बहने लगती है अतः काम-सुख गर्हित-ग्राम्य नहीं है, वह भी मनुष्य को मुक्ति की दिशा की ओर ले जाता है।

स्थूल रूप से उर्वशी में नारी का प्रेमिका रूप ही अधिक मुखर हुआ है। वह एक वर्ष के अभिसार के पश्चात् च्यवन मुनि के आश्रम में एक पुत्र को भी जन्म देती है। और जब तक पुरुरवा अपनी रानी औशीनरी के साथ पुत्रेष्ठि यज्ञ में लीन रहते हैं वह पुत्र के निकट ही रहती है। उसे यही चिन्ता सालती रहती है कि जब राजा का यज्ञ पूर्ण हो जाएगा तब उसे अपने हृदय के टुकड़े को छोड़कर जाना पड़ेगा। भरत मुनि के शाप की स्मृति उसे उद्विग्न बना देती है। उसे पति या पुत्र में किसी एक को छोड़ना ही पड़ेगा। 'पति' शब्द का प्रयोग भी बड़ा महत्वपूर्ण है। 'पति' शब्द से भारतीय नारी की पति-भक्ति की ध्वनि आती है। पुरुरवा को उर्वशी ने पति रूप में ग्रहण किया है और वह यज्ञ-समाप्ति के पश्चात् राजा के साथ महल में ही निवास करती है (यद्यपि उनके विवाह की चर्चा कवि ने कहीं नहीं की है। हो सकता है दिनकरजी विवाह - अग्नि के फेरों - को केवल एक औपचारिकता मानते हों)। उर्वशी को पुत्र छोड़ने के समय बहुत ही कष्ट होता है। उसमें मातृत्व की कमी नहीं है किन्तु जब पति-पुत्र में से किसी एक को ही वरण करने की शर्त हो तो शायद भारतीय स्त्री पति को ही वरण करेगी, उर्वशी के साथ भी यही होता है। वह सुकन्या से यही कहती है कि जब उचित समय हो तभी तुम आयु को पिता के पास पहुँचा देना। वह सोचती है कि वह समय कितना दारुण होगा जबकि पिता-पुत्र के मिलते ही शापवश मेरा उनसे वियोग हो जायेगा। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में अन्त में इन्द्र नारद की द्वारा सन्देश भेजते हैं कि उर्वशी सदा के लिए पुरुरवा के साथ रहेगी। किन्तु दिनकर ने ऐतिहासिकता का निर्वाह करते, मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है और उर्वशी को पाठक की सहानुभूति का पात्र बना दिया है।

औशीनरी

औशीनरी पुरूरवा की परिणीता है। राजा पुरूरवा जब उर्वशी पर आसक्त हो जाते हैं तो वह पूर्णतया उपेक्षित हो जाती है।

औशीनरी में सामान्य भारतीय नारी के लक्षण प्रतिबिम्बित हुए हैं। औशीनरी एक कुलवधू है जिसका मुख्य आभूषण लज्जा है। वह पति को प्रसन्न रखने के लिए चन्द्र की आराधना करती है और व्रत रखती एवं पति की पूजा करती है, किन्तु वह प्रिय को आकर्षित करने के लिए प्रमदा की भांति आचरण नहीं कर पाती। मदनिका जब यह कहती है कि नारी जीवन की वह घड़ी कितनी गौरवमयी होती है जबकि अजेय केसरी पुरुष उसके कदमों में पड़ा, तन की सुध भूले हुए उसके रूप-रस का पान किया करता है। बड़े-बड़े तपस्वियों का तप, ज्ञानियों का ज्ञान और मानियों का मान सहज ही प्रमदा के चरणों में भेंट चढ़ जाता है। किन्तु नारी के मन में पुरुष के समान आतुरता नहीं होती। वह मन के ज्वार को उफनने नहीं देती, तो यह सुनकर औशीनरी कहती है कि हमारे हृदय में प्रेम का सागर उमड़ता भी है लेकिन हम उसे बाहर प्रकट करें तब तक पुरुष का प्रेम शिथिल और प्रशमित होने लगता है। और इसके पश्चात् सिवाय आँसू बहाने के और कुछ हाथ नहीं आता। औशीनरी कहती है कि मैं रानी हो कर भी एक अप्सरा से हार गई हूँ। उसने छल कर मेरे प्रिय पति को मुझसे विमुख कर दिया है।

औशीनरी में स्वाभाविक रूप से उर्वशी के प्रति ईर्ष्या भी है। वह उसके लिए गणिका, प्रवंचिका, अधम पापिनी जैसे शब्दों का प्रयोग करती है। 'वह यही कहती है कि मैंने इस गणिका का ऐसा कौन सा अहित

किया था जिसके कारण उसने मेरा सारा सुख छीन लिया। औशीनरी को बार-बार यही विचार आता है कि मैंने अपना सब कुछ महाराज के लिए न्योछावर कर दिया है, मेरा तन-मन, सब उनके चरणों में ही अर्पित है, ऐसा कौन सा पुष्प है जो मैंने उनकी पूजा-वेदी पर अर्पित न किया हो, किन्तु यह कैसी स्थिति है कि सदा विरहिणी-सदृश उनके सुख को जोहती रहती हूँ और प्रेम की वह मधुर किरण ही नहीं मिलती जिससे नारी के अन्तर का मान-पद्म खिलता है -

> सब कुछ है उपलब्ध, एक सुख वही नहीं मिलता है,
> जिससे नारी के अन्तर का मान-पद्म खिलता है।
> वह सुख जो उन्मुक्त बरस पड़ता उस अवलोकन से,
> देख रहा हो नारी को जब नर मधुमत्त नयन से।[1]

वास्तव में प्रिय की अनुरक्ति ही ह नारी जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसके अभाव में उसका जीवन नीरस हो जाता है। औशीनरी की यही अवस्था है। लेकिन पतिव्रता स्त्री का पति के सिवा कोई और आधार नहीं होता अतः वह आंसू पीकर इस व्यथा को झेलती रहती है।

औशीनरी सोचती है कि जीते जी इस मरण के झेलने से मरना ही अधिक बेहतर होगा किन्तु तभी कंचुकी महाराज का सन्देश सुनाता है कि "मैं यहाँ गन्धमादन पर बहुत प्रसन्न हूँ और पुत्र के लिए ईश्वर की आराधना कर रहा हूँ और आप भी पुत्र-प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करती रहें। औशीनरी इस सन्देश से और भी व्यथित हो उठती है कि ये कैसी साधना है? क्या अप्सरा के साथ रमण करना ही ईश्वर की आराधना है? किन्तु यह पतिव्रता, गरिमामयी नारी है। पति के लिए कोई अपशब्द उसके मुख

---

१. उर्वशी - अंक २, पृष्ठ ३७.

से नहीं निकलता। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में रानी पति का अपमान भी कर बैठती है और अपशब्द भी कहती है। किन्तु दिनकर ने उसका चरित्र बड़ा सहनशील चित्रित किया है। वह सदा अपने पति की मंगल कामना ही करती है -

तब भी मङ्गल अनुकूल हों,
मुझको मिलें जो शूल हों,
प्रियतम जहाँ भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों।[1]

इस प्रकार वह उपेक्षिता है, प्रणय वंचिता है किन्तु सब कुछ सहन करती हुई सूने भवन में प्रिय की कुशलता की बाट जोहती हुई समय व्यतीत करती है। भारत में नारी की यही नियति है।

औशीनरी में मातृत्व भी सजग है। वह पुरूरवा के सन्यास-ग्रहण के पश्चात् उर्वशी के पुत्र आयु को अपने ही पुत्र के समान हृदय से लगा लेती है। उसे सौतेले पुत्र के प्रति कोई ईर्ष्या नहीं है। वह यही कहती है कि अब तक मैं राजमहिषी थी किन्तु आज मैं राजमाता हूँ। वह पति की छाया का दर्शन पुत्र में करती है। वह देखती है कि आयु माता-पिता दोनों के स्नेह से वंचित रह कर कितना दुखी है तो उसे यही अफसोस होता है कि अगर कहीं मुझे अपना पुत्र बचपन में ही प्राप्त हो गया होता तो मैं उसे कितनी उमंग, कितनी आशा से पालती। रानी औशीनरी का मातृत्व जो अब तक सुप्त पड़ा था आयु को प्राप्त करके उमड़ पड़ता है। वह आयु को सान्त्वना देती हुई कहती है -

पिता गये वन, किन्तु, अरे, माता तो यहीं खड़ी है।
बेटा! अब तो अनाथ नरनाथ नहीं रेखों का।
तुझे प्यास वात्सल्य-सुधा की, मैं भी उसी अमृत से
बिना लुटाये कोष हाय! आजीवन भरी रही हूँ।[2]

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ७०.
२. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १५५.

वायु को प्राप्त कर उसे ऐसा लगता है मानो जीवन की तेज तपन में आज प्रथम बार शीतलता की किरण मिली हो। वायु का क्रन्दन देखकर उसका हृदय विचलित हो उठता है किन्तु वह उसे यही कहती है कि "बेटा, क्रन्दन करना वीर नृपति का कार्य नहीं है। देख मैं स्वयं किस प्रकार इन्द्र के समान प्रतापी पति को गृंवा कर भी शान्त खड़ी हूं मैंने अपनी उच्छ्वासों को दबा लिया है। तुम्हें इस प्रकार अधीर नहीं होना चाहिये।

औशीनरी स्वयम् भी एक कर्तव्यपरायणा नारी है और वायु को भी कर्तव्य-पथ की ओर उन्मुख करती है। वह उसे यही शिक्षा देती है कि वीर शासक कभी अपनी पीड़ा से नहीं टूटते बल्कि अपनी पीड़ा भूलकर भी औरों की पीड़ा हरने को तत्पर रहते हैं -

नृपति नहीं टूटते कभी भी निज विपत्ति व्यथा से;
अपनी पीड़ा भूल यन्त्रणा औरों की हरते हैं।

हँसते हैं, जब किरण हास्य की हो उनके अधरों पर,
रोते हैं, जब प्रजा-जनों के नयन सिक्त होते हैं।
अपनी पीड़ा कहाँ, उसे अपना आनन्द कहाँ है,
जिस पर चढ़ा किरीट, भार दुर्वह समाज-शासन का ?[१]

इस प्रकार औशीनरी एक ओर पतिपरायणा स्त्री है तो पुत्रहीना होते हुए भी वात्सल्य से सिक्त माता भी। सपत्नी के प्रति उसमें ईर्ष्या है किन्तु उसके पुत्र के प्रति अगाध स्नेह भी है। वह अपने जीवन में निराश होते हुए भी वायु को सान्त्वना देकर धैर्य व साहसपूर्वक कर्तव्य करने की शिक्षा देती है और स्वयम् भी सब दुख सहन करती हुई हँसने का प्रयत्न करती है।

---

१. उर्वशी - अंक ५, पृष्ठ १५५.

काव्य के अन्तिम पृष्ठों में औशीनरी सुकन्या के वार्तालाप में औशीनरी की करुण उक्तियाँ बड़ी हृदय-विदारक हैं। उसे अन्त तक यही दुःख रहता है कि महाराज सदा ही कोई शुभ कार्य मेरे बिना नहीं करते थे फिर अन्तिम शुभ-काम में वे कैसे मुझे भूल गये। मैं हाथ जोड़े मन्दिर में पूजा में ही लीन थी कि देवता बिना कुछ कहे ही मन्दिर छोड़कर चले गये उन्हें जाना ही था तो अन्तिम बार चरणों की धूलि ही ले लेने देते। सुकन्या जब उसे धैर्य बँधाकर कहती है कि इस समय जो कुछ भी घटित हुआ वही उचित था और यही होना था तो रानी यही कहती है कि मेरे पति को छला किसी और ने था किन्तु विपदा मुझे ही सहनी पड़ी किन्तु शायद मैं ही इसके लिए दोषी हूं। मैं भी अप्सरा के समान व्रीड़ा का आवरण फाड़कर महाराज के सामने व अपने अन्तर की छिपी हुई कामना को क्यों न व्यक्त कर सकी। मैं भी यदि महाराज के मन में प्रेम की ललक जगाती, प्रम्लोचा के समान उन्हें आकर्षित करती तो आज शायद यह दिन न आता। मैं अपना सब कुछ उन्हें अर्पित कर चुकी हूँ, ऐसा सोचना केवल एक भ्रान्ति थी। अब लगता है कि प्रियतम को जिस सुरभि की तृष्णा थी वही मैं उन्हें देने से चूक गई।

सुकन्या औशीनरी को सहानुभूति के साथ धैर्य बँधाती है कि देवि! वास्तव में आपकी व्यथा बहुत गहन है किन्तु नारी की सहज भूमि धूप नहीं, छाया ही है। वे इतिहास में घटनाएँ नहीं जोड़ती बल्कि उसकी उद्गम स्थली हैं। नारी की विशेषता प्रीति - करुणा,- प्रेरणा है इसीलिए मानवता के दिव्य गुणों के समीप नर नहीं नारी ही अधिक है।

औशीनरी अन्त में भावी युग की नारी के लिए सुखपूर्ण भविष्य की कामना करते हुए वायु को हृदय से लगाकर आवेश को शान्त कर लेती है।

इस काव्य में उर्वशी, पुरुरवा, औशीनरी के अतिरिक्त अन्य पात्र भी हैं, वे हैं - च्यवन, सुकन्या, चित्रलेखा, वायु। ये पात्र महत्वपूर्ण

होते हुए भी चरित्रांकन की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। च्यवन और सुकन्या एक आदर्श पति-पत्नी हैं। उनका जीवन अनुकरणीय दिशा प्रस्तुत करता है। चित्रलेखा एक स्नेहशीला सखी है। वह अपनी प्रिय सखी को सुख पहुँचाने के लिए सब प्रकार से तत्पर है।

उर्वशी-पुत्र आयु एक कोमल वृत्ति वाला किशोर है। दिनकरजी ने इस काव्य में उसका माता-पिता के वियोग के अतिरिक्त अधिक उल्लेख नहीं किया है।

অধ্যায়

৯

काम का स्वरूप

उर्वशी काव्य का विषय है - यौनाकर्षण से सम्भूत नर-नारी का प्रेम । इसकी व्याप्ति शरीर के धरातल से लेकर आत्मा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोकों तक है । दिनकर ने दार्शनिक शब्दावली में इसे 'काम - आध्यात्म' की संज्ञा दी है । 'काम की अनुभूति के सूक्ष्म-प्रबल, कोमल-कठोर, तरल-प्रगाढ़, मोहक-पीड़क, उद्वेगकर-सुखकर, दाहक और शीतल और मृन्मय और चिन्मय अनेक रूपों का 'उर्वशी' में अत्यन्त मनोरम चित्रण है ।[१] डा० नगेन्द्र के इन शब्दों में उर्वशी के 'काम-आध्यात्म' का रूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है ।

काव्य-शास्त्र में 'रति' को मानव जीवन बल्कि सम्पूर्ण प्राणी-जगत की मूल्य प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है 'रति भाव' में शारीरिक आकर्षण के साथ जब मन भी आकर्षित होकर आनन्द ग्रहण करता है तब वह आध्यात्म के समान उच्च आसन ग्रहीत करता है । काम-जन्य आनन्द की अनुभूति शरीर के धरातल पर स्थूल रूप में प्रबल होती है तो आत्मा के धरातल पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है । एक ओर वह दाहक होती है तो दो आत्माओं को एकाकार करके शीतलता भी प्रदान करती है । यदि प्रेम केवल शरीर तक ही सीमित होता तो विरह में प्रगाढ़तर कैसे होता । विरह में जबकि प्रेमी शरीर से कोसों दूर होते हैं तब मन-आत्मा से अत्यन्त निकट होते हैं । बाह्य चक्षु जो संभोग में प्रिय का रूप-दर्शन करते थे विरह

---

१. डा० नगेन्द्र 'उर्वशी', पृष्ठ १६७, 'दिनकर' संपादिका - सावित्री सिन्हा.

में सांसारिकता से परे होकर हर समय सोते जागते प्रेमी का ही दर्शन करते हैं। आत्मा उसी के चिंतन में लीन रहती है। मिलन में जो प्रिय एक देही होता है वह विरह में सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त दीखता है। इस प्रकार प्रेम में भी भक्ति के समान तन्मयता उत्पन्न करने की शक्ति है। केवल आलम्बन के भेद से हम उसे भक्त कहें या प्रेमी क्योंकि केवल शारीरिक मिलन के आधार पर यह तन्मयता नहीं हो सकती। दो प्रेमी जब शरीर और मन दोनों से एकाकार हो जायँ फिर चाहे वह प्रेम एकदम लौकिक ही क्यों न हो - आध्यात्म के समान ही श्रेष्ठ है। क्योंकि काम कोई विकृति नहीं बल्कि एक शुद्ध सात्त्विक भाव है। 'उर्वशी' में दिनकर ने यही मत प्रतिपादित किया है। काव्य की नायिका उर्वशी भिन्न-भिन्न प्रकार से इसी मत का प्रतिपादन करती है।

'उर्वशी' काव्य में दर्शन और मनोविज्ञान के द्वारा जीवन के काम पक्ष की व्याख्या की गई है। काम-पक्ष में दिनकर ने शरीर-मन और आत्मा तीनों की सत्ता स्वीकार की है। शरीर और मन की सत्ता तो पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी स्वीकार की है। फ्रायड ने 'लिबिडो' को मूल संचालिका वृत्ति के रूप में माना है। सेक्स को सबसे अधिक महत्त्व देकर मन को उसी का अनुगामी माना है। भारतीय उपनिषदों में आत्मा को सर्वाधिक महत्त्व देकर तन के काम की गर्हणा की गई है किन्तु दिनकर एक ओर आध्यात्मवादी हैं तो दूसरी ओर उन्होंने ऊँचे धरातल पर प्रेम के पार्थिव तत्त्व को भी महत्त्व प्रदान किया है। उर्वशी की भूमिका में वे लिखते हैं - 'प्रेम में भी मूल से ऊपर उठकर अगोचर होने की शक्ति होती है, रूप के भीतर डूबकर अरूप का सन्धान करने की प्रेरणा होती है।

अपने स्थूल से स्थूल रूप में भी, प्रेम एक मानव का दूसरे मानव के साथ एकाकार होने का सबसे सहज, सबसे स्वाभाविक मार्ग है; किन्तु विकसित और उदात्त हो जाने पर तो वह मनुष्य को बहुत कुछ वही शीतलता प्रदान करता है जो धर्म का वरदान है। पद्मपुराण में लिखा है - धर्मादर्थो अर्थतः कामः कामाद् धर्म फलोदयः। अर्थात् - धर्म से अर्थ और अर्थ से काम की प्राप्ति

इस प्रकार काम के ये दोनों रूप उसके दो सोपान हैं। आध्यात्मिक आनन्द तक पहुँचने के लिए भौतिक सोपान अत्यावश्यक है।

उर्वशी प्रारम्भ में शारीरिक सुख की प्राप्ति के उद्देश्य से ही इस भूतल पर आती है। देवलोक में केवल गन्ध का आकर्षण है; स्पर्श का सुख वहाँ उपलब्ध नहीं है इसीलिए देवी प्रेम में शीतलता है जबकि मानवी प्रेम में दाह है - स्पर्श की ललक है। इसी कारण उर्वशी को स्वर्ग का सुख भी धरा के इस सुख के सामने फीका लगता है।

उर्वशी पुरुरवा के साथ पूर्ण रूप से काम का आनन्द प्राप्त करना चाहती है। पुरुरवा का चित्त द्वन्द्व में है। कभी तो उनका मन अपने बाहु-पाश में आबद्ध प्रेयसी में डूबता है तो कभी अनाशंकित का भाव उनमें विरक्ति का संचार करता है। वे बार-बार यही सोचते हैं कि -

"अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।"[१]

पुरुरवा की यही शिक्षा, कि रूप को तो केवल नेत्रों से पान करना चाहिये, आलिंगन द्वारा रूप की आराधना उचित नहीं - अर्थात् शारीरिक वासनाओं की पूर्ति कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं है, उर्वशी को शंकित कर देती है। उर्वशी फिर पुरुरवा के सम्मुख काम का प्रवृत्तिमूलक आख्यान करती है और काम को केवल कायिक न मानकर आध्यात्म के समकक्ष ठहराती है उर्वशी कहती है कि माना कि अनाशंकित का भाव किंचित प्रणय को भी पवित्र करता है किन्तु भूतल पर जब तक नर के प्रेम में पावक है तभी तक देव भी उसका समादर करते हैं। उर्वशी कहती है -

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ४८.

तू नहीं जानता इसे वस्तु जो इस ज्वाला में खिलती है
सुर क्या, सुरेश के आलिंगन में भी न कभी वह मिलती है
यह विकल, व्यग्र, विह्वल प्रहर्ष सुर की सुन्दरी कहाँ पाये ?
प्रज्वलित रक्त का मधुर स्पर्श नभ की अप्सरी कहाँ पाये ?[1]

वास्तव में शारीरिक तृप्ति के अभाव में केवल भावनाओं के बल पर कहाँ तक प्रेम ठहर सकता है प्रेम के इस भाव लोक में बुद्धि को कोई स्थान नहीं है क्योंकि बुद्धि तो केवल सोचती है और रक्त अनुभव करता है। बुद्धि के छलावे में मनुष्य को केवल भरमा देते हैं और उसे फिर पाप-पुण्य के भुलावे आनन्द से वंचित कर देते हैं अतः रक्त की भाषा ही सत्य है और आनन्ददायी है - स्पर्श-सुख का अनुभव रक्त ही करता है जो कि बुद्धि से एकदम परे है -

श्रुति पुट पर उत्तप्त श्वास का स्पर्श और अधरों पर
रसना की गुदगुदी, अदीपित निशा के अँधियाले में
रसमाती भटकती व उंगलियों का संचरण त्वचा पर
इस निगूढ़ कूजन का आशय बुद्धि समझ सकती है ?[2]

पुरुरवा अब पूर्ण रूप से विभोर हो कर यही कहते हैं कि प्रेम वास्तव में दाह मात्र ही नहीं अमृत शिखा भी है अतः प्रेम पहले स्पर्श ही होता है किन्तु बाद में चिन्तन भी बन जाता है -

पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी,
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है तब वायव्य गगन भी ।[3]

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ५६.
२. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६०.
३. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६३.

धीरे-धीरे तन का अतिक्रमण कर प्रेम उस लोक में प्रवेश करता है जहाँ श्रुति की सीमा भी बिला जाती है -

तन का अतिक्रमण यानी मांसल आवरण हटाकर,
आँखों से देखना वस्तुओं के वास्तविक रूप को,
और श्रवण करना कानों से आहट उन भावों की,
जो खुल कर बोलते नहीं गोपन इंगित करते हैं।[1]

यह है प्रेम की सम्यक् अवस्था जिसमें गूढ़ आलिंगन में निबद्ध प्रेमी अंग-संज्ञा को पार कर समाधि का सा आनन्द प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अब तक प्रेम की महानता की कसौटी विरह को माना गया था किन्तु दिनकर ने मांसल आवेग-पूर्ण संयोग में भी काम-क्रीड़ा की अमांसल अभिव्यक्ति कर रुचि के विस्तार द्वारा उसे समाधि के समान आनन्ददायी बना लिया है -

जला जा रहा अर्थ सत्य का सपनों की ज्वाला में,
निराकार में आकारों की पृथ्वी डूब रही है।
यह कैसी माधुरी ? कौन स्वर लय में गूँज रहा है ?
त्वचा जाल पर रक्त शिराओं में अकूल अन्तर में ?
ये उर्मियाँ! अशब्द नाद! उफ री बेबसी गिरा की ?
होगी कोई शब्द ? कहूँ क्या कह कर इस महिमा को ?[2]

काम के आनन्द में डूबे प्रेमी उचित-अनुचित सद्-असद् के विवेक से परे होते हैं जो एक प्रकार की मुक्तावस्था ही है। काम भी ईश्वर की प्रकृति है अतः सहज-प्राकृतिक होकर आनन्द की धार में बहते जाना परमेश्वर की विमुखता नहीं है। माया मोह के जितने भी बन्धन हैं उनका कारण यह

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६२.
२. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ७४.

शुद्ध है। नर-नारी तो प्रकृति के प्रसन्न अवयव हैं; अतः मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रकृति से दूर भागना कहाँ तक उचित है। जब आत्मा पर बन्धन ही नहीं है तो मुक्ति का उपाय कैसा ? -

प्रकृति नहीं माया, माया है नाम भ्रमित उस धी का,
बीचों बीच सर्प-सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है;
एक जीभ से जो कहती कुछ सुख वर्जित करने को,
और दूसरी से बाकी का वर्जन सिखलाती है।

मन की कृति यह द्वैत, प्रकृति में, सचमुच द्वैत नहीं है।
जब तक प्रकृति विभक्त पड़ी है श्वेत-श्याम खंडों में,
विश्व तभी तक माया का मिथ्या प्रवाह लगता है,
किन्तु, शुभाशुभ भावों से मन के तटस्थ होते ही,
न तो दीखता भेद न कोई शंका ही रहती है।[१]

यह अकाम आनन्द उन्हीं को प्राप्त होता है जो प्रकृति से एकाकार होकर निष्काम भाव से कर्मरत रहते हैं क्योंकि -

हम निसर्ग के स्वयं कर्म हैं, कर्म स्वभाव हमारा,
कर्म स्वयं आनन्द, कर्म ही फल समस्त कर्मों का।[२]

जब हम अपने में लीन होकर स्वाभाविक रूप से कर्म करते हैं तो हम कर्मी नहीं स्वयम् कर्म होते हैं तभी अनजाने कहीं से रवि के समान निष्कलुष मोद की किरणें फूट पड़ती हैं। जैसे प्रकृति के अन्य अवयव फलासक्ति से विरत रह कर कर्म करते हैं - जिस प्रकार यह समीर आसक्ति से हीन रह कर बहता है और स्वयम् आनन्दित होकर दूसरों को भी उल्लसित किया करता है, और ये सुमन निरुद्देश्य खिला करते हैं फिर मनुष्य ही क्यों

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ७८-७९.
२. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ८०.

वासक्षित से कर्मों को दूषित करे -

क्योंकि प्रकृति की पुरुष एक हैं, कोई भेद नहीं है
जो भी है अवसर निसर्ग के, ईश्वर के भी कारण हैं
धर्म साधना कहीं प्रकृति से भिन्न नहीं चलती है,
दृश्य, अदृश्य एक हैं दोनों; प्रकृति और ईश्वर में,
भेद गुणों का नहीं, भेद है मात्र दृष्टि का, मन का।
और यहाँ काम-धर्म ही उज्ज्वल उदाहरण हैं।[१]

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - जीवन के ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। काम का स्थान तृतीय है धर्म-अर्थ-काम ये तीनों मोक्ष के साधन हैं जो कि जीवन का चरम पुरुषार्थ है। कुछ लोग धर्म को जीवन का चरम पुरुषार्थ मानते हैं किन्तु हमारी दृष्टि में धर्म स्वयं कोई साध्य नहीं साधन है - एक औचित्य का पैमाना है जिसके टूटते ही न हमें अर्थ की सिद्धि हो सकती है न काम की, फिर मोक्ष की सिद्धि का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जब अर्थ और काम धर्म से सम्पृक्त होते हैं तो मोक्ष तो स्वत: ही सिद्ध हो जायेगा। डा० नगेन्द्र की मान्यता है कि 'जीवन का चरम पुरुषार्थ धर्म ही हो सकता है जिसमें लौकिक दृष्टि से अभ्युदय और आध्यात्मिक दृष्टि से नि:श्रेयस की सिद्धि अन्तर्भूत है; अर्थ और काम उसके साधन हैं - ये दोनों ही महान् पुरुषार्थ हैं किन्तु अन्तत: साधन-रूप ही हैं - साध्य नहीं बन सकते'।[२] यहीं उनका विचार दिनकर से भिन्न है। हमारे विचार से भी धर्म स्वयम् चरम पुरुषार्थ नहीं - आचरण का एक मार्ग है जो मनुष्य को उसके इष्ट तक ले जाने में उपायक है। अर्थ तो बहुत साधारण सिद्धि है अत: काम और मोक्ष यही दो पुरुषार्थ हैं। मोक्ष नि:सन्देह ही काम से बहुत श्रेष्ठ है किन्तु काम को एक पुरुषार्थ मानते हुए हमें उसका बहुत विशाल अर्थ ग्रहण करना

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ८४.
२. डा० नगेन्द्र, 'दिनकर' संपादक - डा० सावित्री सिन्हा, पृष्ठ २७२.

पड़ेगा। जहाँ काम केवल शारीरिक वासना पूर्ति तक ही सीमित होता है वहाँ वह कुंठित होकर पाप बन जाता है। दिनकर काम को धर्म और पाप दोनों ही कहते हैं - वे स्वयम् इस अन्तर्विरोध का कारण बताते हैं -

काम नहीं, इस वैपरीत्य का भी मन ही कारण है।
मन जब हो आसक्त काम से लभ्य अनेक सुखों पर,
चिन्तन में भी उन्हीं सुखों की स्मृति ढोये फिरता है,
विकल, व्यग्र, फिर-फिर, मधु-सर में अवगाहन करने को,
स्नेहाकृष्ट नहीं, तो यत्नों से, छल से, बल से भी,
तभी काम से बलात्कार के पाप जन्म लेते हैं,
तभी काम दुर्धर्ष, दानवी किल्विष बन जाता है।
काम कृत्य वे सभी दुष्ट हैं, जिनके सम्पादन में,
मन-आत्माएँ नहीं, मात्र दो वपुष् मिला करते हैं,
या तन जहाँ विरुद्ध प्रकृति के विवश किया जाता है,
सुख पाने को, दया नहीं, केवल मन की लिप्सा से।[१]

वास्तव में तन का कोई अपराध नहीं, क्योंकि उसकी भूख तो सीमित है लेकिन जब तन की भूख मन में प्रवेश कर जाती है तो अतृप्त वासनाएँ उसे मलिन बना देती हैं। नर-नारी का मिलन जब सहज आकर्षण से नहीं होता तो उसमें विकृतियाँ आ जाती हैं इसीलिये कवि का कथन है कि 'तन का काम अमृत, लेकिन मन का काम गरल है'। मन के सहज आकर्षण से प्रेरित होकर आत्मा से संयुक्त होकर जब तन काम में रत होता है तभी उसे उत्कृष्ट और पूर्ण काम कहा जा सकता है। वात्स्यायन ने 'काम सूत्र' में काम की परिभाषा इस प्रकार की है -

आत्मा से संयुक्त मन द्वारा कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा एवं

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ८४-८५.

प्राण का अपने विषयानुकूल प्रवृत्त होना ही काम है।' वास्तव में सारा विवाद तो काम का बहुत संकुचित अर्थ ग्रहण करने के कारण खड़ा हुआ है। 'आधुनिक युग में काम को नर-नारी के संभोग सुख का पर्याय मान लेने के कारण हम उसके आध्यात्मिक तत्त्व को एकदम भुला बैठे हैं। काम गरल तभी बनता है जब वह मन में कुण्ठा और घुमड़न के कारण विकृत हो जाता है। डा० नगेन्द्र का विचार है कि 'मन के काम के बिना केवल तन के काम की स्पृहा क्या संभव है? तन से आनन्द में जो आस्वाद है वह तो मन की क्रिया है। मन का काम ही तो तन के काम को ऐश्वर्य प्रदान करता है।'[1] हमारे विचार से दिनकर का भी स्वयं यही विचार है। इसका प्रमाण दिनकर की इन पंक्तियों में स्पष्ट देखा जा सकता है -

> किन्तु, कभी क्या रसावेश में कोई आ सकता है,
> बिना सहज एकाग्र बुद्धि के, मात्र हाँक कर तन को?
> मांस-पेशियाँ नहीं जानतीं आनन्दों के रस को,
> उसे जानती स्नायु, भोगता उसे हमारा मन है।[2]

इस प्रकार काम के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन करने के बाद उर्वशी एक बात और कहती है कि यद्यपि पुत्र-कामना भी बहुत सुखकर है किन्तु निष्काम काम का वह भी ध्येय नहीं है। क्योंकि यदि काम पुत्र-कामना तक ही सीमित है तो उसमें निरुद्देश्य आनन्द नहीं रहता और वह लक्ष्य-प्राप्ति के पश्चात् समाप्त भी हो सकता है या वर्जनाएँ उसे अवरुद्ध करके कुंठित बना सकती हैं। पुत्र की कामना लेकर काम में प्रवृत्त होना काम का ध्येय नहीं है। काम तो स्वयम् एक आनन्द है।

उर्वशी का कथन इस बात का द्योतक है कि वह निष्काम भाव से काम का आनन्द प्राप्त करना चाहती है। पुरुरवा भी अपनी पत्नी को

---

१. 'दिनकर' सावित्री सिन्हा, पृष्ठ २००.

२. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ८५.

छोड़कर उसके साथ अभिसार में निमग्न हैं। वास्तव में दिनकर ने यह विचार उर्वशी-पुरुरवा को मात्र नर-नारी के प्रतीक मानकर प्रकट किये हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात और है कि उर्वशी पुत्र की कामना से काम में प्रवृत्त नहीं होती। वह सहज प्राकृतिक आकर्षण को ही महत्त्व देती है। श्री विजेन्द्र स्नातक के विचार से "यह नयी नैतिकता उन युवतियों के आचरण का समर्थन करती है जो काम का आनन्द तो लूट कर लूटना चाहती हैं किन्तु माँ बनना नहीं चाहतीं और यदि ऐसा हुआ भी तो बच्चों का पालन करने से भागती हैं।"[१]

हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि काम केवल पुत्र प्राप्ति तक सीमित नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो आज उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता। काम तो स्वयम् आनन्द है जो अपने आध्यात्मिक रूप में समाधि के समकक्ष है। समाधि का आनन्द प्राप्त करने के लिए साधक को सब प्रकार की आसक्तियाँ-तृष्णाएँ त्याग कर साधना में लीन होना पड़ता है उसी प्रकार काम में भी आनन्द के उस मुक्त शिखर तक पहुँचने के लिए कवि ने निष्काम काम की कल्पना की है।

०००००
०००
०

---

१. विजेन्द्र स्नातक, 'धर्मयुग', २ दिसम्बर १९७१, पृष्ठ २२.

अध्याय १०

मूल्यांकन

उर्वशी आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य की कामायनी के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। अनेक विद्वान आलोचकों की मान्यता है कि जो परम्परा कामायनी से आरम्भ हुई थी उसका दूसरा छोर उर्वशी है।

दिनकर ने इस काव्य का विषय भी बड़ा हृदयग्राही चुना है। उर्वशी की कथा के सूत्र भारतीय उपनिषद्, वेद, ब्राह्मण आदि में बिखरे पड़े हैं जिनका शृंखलाबद्ध रूप कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में मिलता है। विक्रमोर्वशीयम् केवल दृश्य-काव्य की दृष्टि से लिखा गया नाटक है जो एक पौराणिक कथा को मनोहारी रूप में प्रस्तुत करता है किन्तु दिनकर ने उन सबमें से आवश्यक अंश ग्रहण करके एक ऐसी काव्य सृष्टि की है जो दृश्य काव्य रूप में तो आकर्षक है ही - साथ ही मन पर एक गहरा प्रभाव भी छोड़ती है।

उर्वशी काव्य का विषय है काम   जो एक शाश्वत प्रवृत्ति है और सृष्टि का आधार है। यह काम प्रेम तत्व से शारीरिक कामनाओं पर आवृत है। दिनकर एक यथार्थवादी कवि हैं जो जीवन की वास्तविकताओं से जागृत हैं। पलायन उनका स्वभाव नहीं है। कुछ कुण्ठा ही बाधक वर्जित मानते हैं। व्यक्ति और आध्यात्मवादी होकर काम के ऐन्द्रिय पक्ष को एकदम हीन और त्याज्य मान बैठते हैं या पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करने वाले काम को एक शारीरिक वासना मान कर उसका आध्यात्मिक रूप भूल बैठते हैं। दिनकर का मत है कि काम के ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय दोनों रूप मिलकर ही पूर्णता को प्राप्त होते हैं। इस को नर-नारी विषयक प्रेम भी कह सकते हैं। प्रेम

स्वयम् में तो बड़ा व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत माता-पुत्र का, भाई-बहन का, स्वामी-सेवक का आदि सभी भाव सम्मिलित हैं किन्तु केवल कान्ता-विषयक प्रेम ही काम का पर्याय है।

उर्वशी में प्रेम का स्वरूप एक ओर तो आवेग से पूर्ण, उद्दाम ऐन्द्रियोपभोग की लालसा से युक्त है दूसरी ओर त्यागपूर्ण एकनिष्ठ प्रेम है तीसरा रूप है पूर्ण परिपक्व शान्त-शीतल-सुस्थिर रूप इन तीनों की झांकी हमें उर्वशी, औशीनरी और सुकन्या के प्रेम में मिलती है।

उर्वशी की रचना में दिनकर ने कामायनी से भी प्रेरणा ग्रहण की है उन्होंने उर्वशी-पुरूरवा को सामान्य नर-नारी के प्रतीक रूप में चित्रित किया है। इसकी स्वीकृति हमें उर्वशी की भूमिका में मिलती है -

"इस दृष्टि से मनु और इड़ा तथा पुरूरवा और उर्वशी, ये दोनों ही कथाएं एक ही विषय को व्यंजित करती हैं। सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरूरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है। ..... मेरी दृष्टि में पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।"[१]

उर्वशी शब्द का कोशगत अर्थ है उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना। यह कामना जन-जन के उर में बसी हुई है और नारी उसकी ही प्रतीक है। पुरुष की कामनाएं नारी में ही आकर साकार हुई हैं। पुरूरवा ऐसे ही पुरुष का प्रतीक है। वह नाना प्रकार के द्वन्द्वों से आक्रान्त है। द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। कभी वह पूर्ण मग्न होकर सुखोपभोग की कामना करता है कभी कैवल्य की तृष्णा उसे इन सबसे ऊपर उठने को प्रेरित करती है किन्तु यथार्थ का ठोस धरातल उसे फिर जमीन

१. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (ख).

पर ही खींच लाता है। भूमि की मिट्टी के मानव की गति रहती है दिनकर ने पुरुरवा-उर्वशी की कथा में इस प्रतीकात्मकता का निर्वाह बड़े ही कौशल के साथ किया है। उर्वशी का तीसरा अंक पढ़ते समय पाठक के सामने उर्वशी-पुरुरवा चरित्र न रह कर मात्र नर-नारी रह जाते हैं। यही इस प्रतीक की सफलता का प्रमाण है।

उर्वशी काव्य का प्रतिपाद्य क्या है इस विषय में आलोचकों में बहुत विवाद है और प्रतिपाद्य रूप में समाधान खोजने के भी बहुत प्रयत्न हुए हैं। क्या हम इसका समाधान यह समझें कि नर-नारी का मिलन प्रेम-समानाकर्षण पर आधारित हो। तो इस आधार पर विवाह संस्था अनुपयुक्त सिद्ध होती है क्योंकि औशीनरी परिणीता होते हुए भी पुरुरवा का प्रणय प्राप्त करने में असमर्थ रहता है किन्तु अन्त में उर्वशी के अन्तर्धान होने के पश्चात् पुरुरवा का उन्माद लेना इसकी असफलता ही प्रमाणित करता है। सबसे सफल तो च्यवन-सुकन्या का प्रेम है जो विवाह संस्था को भी नहीं झुठलाता, न ही योग का बाधक बनता है। योग-भोग दोनों एक रथ के दो पहियों के समान समानान्तर चलते हैं। प्रश्न यह है कि ऐसा संयोग कहाँ तक सम्भव है?

वास्तव में काव्य की उत्कृष्टता का निकष समाधान प्रस्तुत करना नहीं है। प्रसाद ने कामायनी में समरसता का सिद्धान्त प्रतिपादित करके समाधान प्रस्तुत किया है इस आधार पर उर्वशी में भी समाधान खोजना कोई तर्कसंगत कार्य नहीं है। दिनकर द्वन्द्व के कवि हैं। उर्वशी में कवि ने इन्हीं द्वन्द्वों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। किसी समस्या को उसके सही रूप में जान पाना ही क्या छोटी उपलब्धि है? व्यवस्था का दावा करने वाले बुद्धिवादी अनेक समाधान प्रस्तुत करते हैं जबकि समस्या क्या है यह उनके सामने स्पष्ट नहीं होती। 'उर्वशी' में 'मानव-मन की शाश्वत प्रेरणा का अंकन और उससे उत्पन्न अनेक अन्तर्द्वन्द्व एवं भावान्दोलनों का विश्लेषण ही कवि का मुख्य प्रतिपाद्य है।

काव्य का प्रसाद रूप में जो एक सघन समग्र प्रभाव मन पर छूट जाता है, वह स्वत: ही सन्देशवाही होता है, उसे किसी आरोपित सन्देश, दर्शन अथवा तर्क-सम्मत चिन्तन की अपेक्षा नहीं होती।'[1] उर्वशी का यही प्रभाव उसका प्रतिपाद्य है। समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न तो खुद कवि ने किया ही नहीं है। कवि का कथन है -

'प्रश्नों के उत्तर, रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते हैं।'

कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है, केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।'[2]

पुरूरवा-उर्वशी की कथा का अन्त पुरूरवा के सन्यास पर ही जाता है और यही उसकी अनिवार्य परिणति है क्योंकि मनुष्य की आकांक्षाएँ जब इस प्रकार धोखा खा जाती हैं तो उसका भावनाओं का महल एक ही झटके में चकनाचूर हो जाता है और अन्त में जीवन और सभी प्रकार के मोहों से उसे विरक्ति हो जाती है।

कुछ आलोचकों की मान्यता है कि यदि उर्वशी काव्य पुरूरवा के उन्माद पर ही समाप्त हो जाता तो अधिक प्रभावशाली होता। निःसंदेह, यदि ऐसा ही होता तो उसका अन्त बड़ा ही नाटकीय होता किन्तु ऐसा अन्त कवि को अभीष्ट न था न ही वह इस काव्य की गरिमा के उपयुक्त था। कवि का लक्ष्य कोई दृश्य-काव्य प्रस्तुत करना नहीं बल्कि मानव अनुभूतियों की प्रगाढ़ संवेदनाएँ, प्रेम के संयोग-वियोग, ऐन्द्रिय-अतीन्द्रिय, भोग-त्याग से पूर्ण चित्र प्रस्तुत करना है और वेदना की भूमि चूँकि पुरूरवा के सन्यास पर समाप्त

---

१. गिरजाकुमार माथुर, 'नयी कविता: सीमाएँ और सम्भावनाएँ', पृष्ठ १०६.

२. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (छ).

नहीं हूँ, इसलिए, औशीनरी का [illegible] नहीं दिया ।"[1]

इनकी पीडाओं में कहीं दिनकर की नारी विषयक भावना के दर्शन भी होते हैं। उर्वशी प्रेयसी होने के साथ ही स्वतन्त्र नारी की प्रतीक भी है किन्तु औशीनरी एक पारम्परिक प्रेयसी स्वाभिमानी नारी है वह नारीत्व के सभी गुणों से पूर्ण है अत: श्रद्धा की पात्र है। आधुनिकाओं के प्रति कवि के मन में प्रारम्भ से ही एक आक्रोश है जो 'रसवन्ती' में भी प्रकट हुआ है। उर्वशी में भी कवि ने अपनी श्रद्धा औशीनरी के प्रति समर्पित की है। कवि का कहना है कि नारी स्वयम् प्रिया नहीं, प्रेरणा, प्रीति, करुणा है। वे स्वयम् इतिहास नहीं रचतीं बल्कि उसकी उद्गमस्थली हैं। नारी तो ममता, दया, क्षमा की मूर्ति है इसीलिए जब इतिहास नारी के निकट पहुँचता है तो वह कविता बन जाता है। प्रसाद की भी नारी के प्रति यही धारणा है उन्होंने कामायनी में श्रद्धा की ऐसी ही मूर्ति गढ़ी है। दिनकर का कथन है -

इसीलिए दाम्पत्य गहन, सुकुमार हृदय नारी का
क्षण-क्षण सजग, अनिष्ट-दृष्टि देखना उसे होता है,
कभी कहाँ है व्यथा ? किधर से लौटे हुए पुरुष को
कहाँ लगी है घाव, प्राण में काँटे कहाँ चुभे हैं ?[2]

वास्तव में नारी की इसी सहनशीलता के आधार पर आज भी व्यवस्था टिकी हुई है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि पुरुष चाहे जितना अत्याचार करे और नारी सब चुप सहन करती रहे। किन्तु जहाँ स्त्रियाँ समानता के आधार पर अपनी ममता, त्याग, सहनशीलता को भूल जाती हैं वहाँ क्या जीवन की धारा शान्त-शीतल है ? वहाँ प्रतिदिन सम्बन्ध टूटते

---

१. उर्वशी - भूमिका, पृष्ठ (छ).
२. उर्वशी - अंक ४, पृष्ठ १६९.

और बनते रहते हैं ऐसी अवस्था में जीवन में स्थायित्व की कल्पना कैसे की जा सकती है। अब नारी के त्याग की स्वीकार की बात है तो दिनकर की यह मान्यता नहीं कि पुरुष को अपनाने मात्र में ही छूट है। इसका अनुकरणीय आदर्श रूप उन्होंने च्यवन-सुकन्या के चरित्र में प्रस्तुत किया है, क्योंकि वे कहते हैं -

मणि-माणिक्य नहीं, तप केवल एक रत्न तापस का;
शुचिस्मिते मैं वही रत्न तुमको अर्पित करता हूँ।
हम-तुम मिलकर साथ रहेंगे यहाँ पर्णशाला में,
मुझे स्वर्ग वरदान मांगने यहाँ स्वयम् आयेगा।[1]

प्रबन्ध काव्यों के तत्वों की दृष्टि से कई भेद किये जा सकते हैं। चरित्र प्रधान काव्य में किसी विशेष चरित्र को दृष्टि में रखकर ही काव्य रचना की जाती है घटना-प्रधान काव्य में कोई विशेष घटना ही उसका केन्द्र होती है। भाव-प्रधान प्रबन्ध काव्य में भावनाओं का ही सर्वाधिक महत्व होता है भावानुभूतियों को अनेक रूप से प्रकट करने में इस प्रकार के प्रबन्ध-काव्य सूक्ष्म अधिक हो जाते हैं। इनमें भाव-उद्वेगों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के सामने चरित्र पक्ष गौड़ हो जाता है। उर्वशी एक नाट्य-प्रबन्ध काव्य है यह दिनकर का काव्य-साहित्य में सर्वथा नवीन प्रयोग है। दृश्य-काव्य का सहृदय पर एक सीधा प्रभाव पड़ता है। पात्रों से पाठक का सीधा सम्पर्क होता है। ऐसा ही तीव्र प्रभाव अंकित करने के लिए प्रबन्ध-काव्य में भी स्थान-स्थान पर संवादों की योजना की जाती है। उर्वशी में दिनकर ने पूर्ण रूप से संवाद शैली का ही प्रयोग किया है। इसके संवाद कई स्थानों पर अत्यधिक लम्बे और दार्शनिक शब्दावली से युक्त होने के कारण अभिनेय तो नहीं हैं किन्तु भावात्मक-प्रबन्ध की दृष्टि से वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। जीवन के एक महत्वपूर्ण पक्ष प्रेम की व्याख्या छोटे-छोटे संवादों के माध्यम से नहीं की जा सकती। तीसरे अंक में उर्वशी-पुरूरवा के लम्बे-लम्बे संवाद उनकी मनःस्थिति को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम हैं और उनसे रसानुभूति

---

1. उर्वशी - अंक ४, पृष्ठ ११२.

में भी कोई बाधा नहीं पहुंचती । यहां कुछ आलोचकों को यह आपत्ति हो सकती है कि क्या मुख्य काम के आवेग में ऐसे काव्य बोल सकता है; और आवेग भी तो क्षणिक होता है अतः उसकी स्थिति भी लम्बे समय तक असंभव है । हमारे विचार से जो लोग काम को केवल शारीरिक तृप्ति ही मानते हैं वही ऐसा सोच सकते हैं । काम का शारीरिक आवेग जितना क्षणिक है, अपने आध्यात्मिक रूप में वह उतना ही गहन और चिरस्थायी है । दिनकर पुरुरवा-उर्वशी के लम्बे संवादों में - पुरुरवा की द्वन्द्वपूर्ण स्थिति, उर्वशी का समाधान और उनकी आत्मिक तल्लीनता को चित्रित करने में पूर्ण सफल हुए हैं ।

उर्वशी में भाव-पक्ष प्रधान होने के कारण कवि का ध्यान चरित्र-चित्रण पर अधिक नहीं गया । फिर भी पुरुरवा उर्वशी-औशीनरी का चरित्र बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत हुआ है पुरुरवा-उर्वशी जहां एक ओर सामान्य नर-नारी के प्रतीक हैं वहीं दूसरी ओर धीरललित व धीरोदात्त नायक और अभिसारिका नायिका के रूप में भी प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत हुए हैं औशीनरी का चरित्र तो बहुत ही हृदय-ग्राहक है । सुकन्या का चरित्र कथा-शृंखला के विकास में विशेष योग न देते हुए भी हर प्रकार से एक आदर्श चरित्र है सुकन्या-च्यवन का जीवन एक आदर्श दम्पति का जीवन है ।

उर्वशी-पुरुरवा की इस सरस कथा को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए जिस उत्कृष्ट शैली की आवश्यकता दिनकर ने उसे बड़े ही कौशल से प्रस्तुत किया है । भाषा पर कवि का अबाधित अधिकार है । खड़ी बोली में ऐसा मनोरम काव्य प्रस्तुत कर दिनकर ने कमाल कर दिया है । विन्यु के समान गर्जना करने वाले कवि से प्रेम की मादकता - नारी के मनोहर हाव-अनुभाव-शृंगार के संयोग-वियोग, युगल प्रेमियों के आलोड़न-विलोड़न, प्रकृति का सुरम्य वातावरण चित्रण आदि के वर्णन भी ऐसे मधुर बन पड़े हैं कि आश्चर्य होता है ।

सम्पूर्ण काव्य शृंगार रस का ऐसा सम्मोहन सा प्रतीत होता है कि पाठक बलात् उसकी मधुर धार में आकण्ठ डूब जाता है । काव्य

के प्रारम्भ में ही दिनकर ने प्रकृति का सरस रमणीक चित्र खींच कर शृंगार के अनुरूप मादक वातावरण अंकित कर दिया है तृतीय अंक तो इस कृति का प्राण है इसमें अनेक पंक्तियां तो ऐसी हैं कि उनका पारायण करके पाठक मंत्र-मुग्ध हो कर झूम उठता है, उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं -

चमक रही कर्पूर धूलि दिग्वधुओं के आनन पर;
रजनी के अंगों पर कोई चन्दन लेप रहा है।
यह अधित्यका दिन में तो कुछ इतनी बड़ी नहीं थी ?
अब क्या हुआ कि यह अनन्त सागर समान लगती है ?
कम कर दी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की ?
उठी हुई-सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है।

रस प्लावन मधु कांति चतुर्दिक ऐसे उमड़ रही है,
मानो निखिल सृष्टि के प्राणों में कंपन भरने को
एक साथ ही सभी बाण मनसिज ने छोड़ दिये हों।[१]

भाषा की ऐसी सामर्थ्य कामायनी के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती।

बिम्ब-योजना की दृष्टि से तो उर्वशी अत्यन्त समृद्ध है ही। यहाँ बिम्ब तो ऐसे हृदयग्राही हैं जो अपनी सानी नहीं रखते बल्कि सम्पूर्ण काव्य ही एक ऐसी चित्रशाला है कि पाठक एक के बाद एक चित्र में डूबता हुआ स्वयम् को भूल जाता है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में -

"विराट और कोमल, उदात्त और मधुर बिम्बों का ऐसा अपूर्व संकलन आधुनिक युग के बहुत कम काव्यों में मिलता है.... इसमें शब्द और अर्थ की व्यंजनाओं से अंकित मसचित्र, रेखाचित्र, रंगचित्र और विराट भित्ति-चित्र जगमग कर रहे हैं।"

---

१. उर्वशी - अंक ३, पृष्ठ ६६.

आनन्द के सूक्ष्म क्षण को दिनकर ने किस कौशल से इन पंक्तियों में चित्रित किया है -

प्रिय! उस पद्म की ओट की किरणें सघन अलातन
क्षण, मुहूर्त, संवत, शताब्दि की बूंदों में अंकित है।
बहने दो निश्चेत शान्ति की इस बहुल धारा में,
देश काल से परे, छूट कर अपने भी हाथों से।
किस समाधि का शिखर चेतना जिस पर ठहर गई है?
उड़ता हुआ विशिख अम्बर में स्थिर-समान लगता है।

उर्वशी में अलंकारों की भरमार नहीं है किन्तु कुछ अलंकार तो बड़े ही सुन्दर हैं। कहीं-कहीं नई प्रभावशाली उत्प्रेक्षाएँ देखकर पाठक प्रभावपूर्ण ढंग से चमत्कृत हो उठता है। जैसे चाँदनी में द्रुम की छाया से उर्वशी का निकलना ऐसा लगता मानों सर्प के मुख से निकलती हुई मणि हो। यह कवि की एकदम नई परन्तु सार्थक कल्पना है। रात्रि के अंधेरे आकाश में तारों के लिए आग्नेय जीव, नील-जलधि को फोड़ कर निकले हुए ज्योति के दीप, नभ-रंध्रों में श्वेत पारावत आदि बड़ी ही चित्ताकर्षक कल्पनाएँ हैं।

निष्कर्ष यह कि उर्वशी दिनकर जी की प्रतिमा का नवनीत है। इस काव्य-रचना में उनकी कवि-कल्पना, प्रबंध-कौशल, अनुभूतिशीलता तथा उच्च कोटि का रागमय भावुकता के दर्शन होते हैं। यह काव्य महाकाव्यात्मक गरिमा से युक्त एक नाट्य-प्रबन्ध है जो मनुष्य के अतीन्द्रिय लोक की सूक्ष्मतम स्थितियों का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करता है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में - " यह समृद्ध काव्यकृति कतिपय दृष्टियों से छायावादोत्तर काल की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानी जायेगी। " आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि - "उर्वशी विश्व-ब्रह्माण्डव्यापी मानव की नित्य नवीन सौन्दर्य-कल्पना के रूप में ऐसी निखरी है कि आश्चर्य होता है। निश्चय ही, यह उपनिबन्ध चित्त की

संदर्भिका

'उर्वशी'

रामधारीसिंह दिनकर
उदयाचल, आर्यकुमार रोड,
पटना-४.
प्रथम संस्करण - १९६१.

ऋग्वेद	
शतपथ ब्राह्मण	
महाभारत	
भागवत	
ब्रह्म पुराण	
विष्णु पुराण	
वायु पुराण	
मत्स्य पुराण	
पद्म पुराण	
ब्रह्माण्ड पुराण	
स्कन्द पुराण	
मनु:स्मृति	
विक्रमोर्वशीयम्	कालिदास
साहित्य-दर्पण	विश्वनाथ
काम-सूत्र	वात्स्यायन
नाट्य-शास्त्र	भरत मुनि
रघुवंशम्	कालिदास

हिन्दी साहित्य कोश, भाग १	संपादक, डा० धीरेन्द्र वर्मा
कामायनी के अध्ययन की समस्याएं (द्वितीय संस्करण)	डा० नगेन्द्र
महाकवि दिनकर, उर्वशी; तथा अन्य कृतियां	डा० विमल कुमार जैन
कामायनी	जयशंकर प्रसाद
भूमि तिलक	रामधारीसिंह दिनकर
दिनकर	सं० डा० सावित्री सिन्हा
धर्मयुग (अंक	सं० डा० धर्मवीर भारती
कादम्बिनी (अंक	सं० राजेन्द्र अवस्थी
हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास	डा० शम्भूनाथसिंह
जायसी ग्रन्थावली (चतुर्थ संस्करण)	पं० रामचन्द्र शुक्ल
काव्य के रूप (पांचवा संस्करण)	गुलाबराय एम.ए.
चिन्तामणि भाग १ (संस्करण-१९३९)	पं० रामचन्द्र शुक्ल
काव्य-बिम्ब	डा० नगेन्द्र
नई कविता, सीमाएं और संभावनाएं	गिरजाकुमार माथुर